I.S.S.N. 0975-6531

यू.जी.सी. केयरलिस्ट में सम्मिलित

वैचारिकी

भारतीय संस्कृति-साहित्य की शोध द्वैमासिकी

जुलाई-अगस्त 2023 * भाग 39 - अंक 4

भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता

₹70/-

• वैचारिकी •

जुलाई-अगस्त 2023 भाग 39 अंक 4

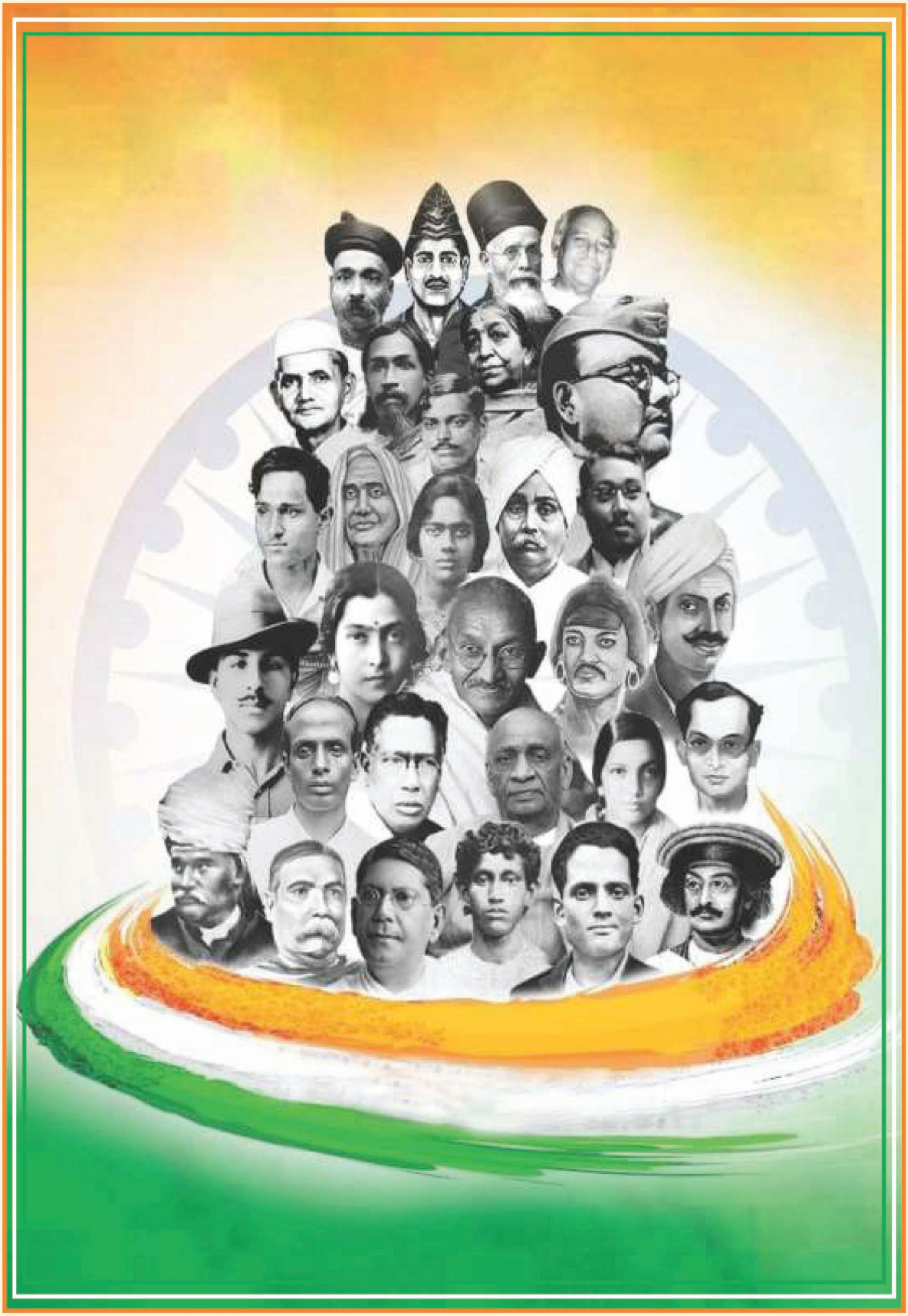

वैचारिकी

भारतीय विद्या मन्दिर की द्वैमासिक शोध पत्रिका

अध्यक्ष व प्रधान-सम्पादक

डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

सम्पादक

डॉ. बाबूलाल शर्मा

प्रबंध-सम्पादक

शंकरलाल सोमानी

I.S.S.N. 0975-6531

वैचारिकी

वर्ष 39 : अंक 4

(धर्म-दर्शन-विज्ञान, साहित्य-लोकसाहित्य, इतिहास-पुरातत्व, कला-लोककला)

यू.जी.सी. केयरलिस्ट में सम्मिलित

जुलाई-अगस्त 2023 ● आषाढ़ शुक्ल 13, द्वि.श्रावण पूर्णिमा, वि. सं. 2080 ● रु. 70

अनुक्रम

- **अध्यक्षीय** – 03
- **सम्पादकीय** – 05
- **भारतीय संस्कृति की आत्मा : सरस्वती नदी व गीतोपदेश स्थली** – रामशरण युयुत्सु 09
- **दक्षिण भारत में पुराकाल में आर्यों का आगमन और परिणाम** – डॉ. एम. शेषण 19
- **हिन्दुस्तान में सभ्यताओं का संघर्ष और समन्वय (पूर्व मध्यकाल से आधुनिककाल)** – प्रो. आर. नाथ 24
- **दाहिर कुमारियों का प्रतिशोध** – डॉ. शिवनन्दन कपूर 37
- **पातकी सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी** – प्रो. अभिराज राजेंद्र मिश्र 42
- **बादशाह अकबर का अजेय सिपहसालार : राजा मानसिंह** – डॉ. आनन्द शर्मा 47
- **अभिलेखों के प्रस्तुतीकरण में कायस्थों की भूमिका (प्राचीन राजस्थान के विशेष संदर्भ में)** –डॉ. सतीश कुमार त्रिगुणायत, श्रीमती रेखादेवी शर्मा 52
- **मोहनगढ़ : एक सर्वेक्षणात्मक अध्ययन** – डॉ. आनन्द कुमार शर्मा 56
- **सीतामऊ के रघुवीर-निवास की अप्रकाशित प्रतिमायें** – रमेश वारिद 61
- **डूंगरपुर का मूर्ति-कला उद्योग** – महेश पुरोहित 63
- **आंध्र प्रदेश की सांस्कृतिक संरचना** – डॉ. अनुपमा तिवारी 69
- **भारत-नेपाल का एकत्व** – नर बहादुर दहाल 74
- **पाठक मंच** – 79

अथ गौरव-गाथा रथ की, प्राचीन भारत में नौ कला, विश्व गगन में गतिमान हिमगिरि का गरुड़, स्वतंत्रता संग्राम में शाजापुर जिले की भूमिका, दक्षिण भारत में देवदासी प्रथा, महात्मा रावण।

- प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक-प्रकाशक की अनुमति आवश्यक।
- प्रकाशित लेखादि में अभिव्यक्त विचारों से प्रकाशक-सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं।
- समस्त विवादों के लिए न्यायालय क्षेत्र कोलकाता होगा।

योगः कर्मसु कौशलम्

कार्यालय

भारतीय विद्या मंदिर

12/1, नेली सेनगुप्ता सरणी

कोलकाता-700087

दूरभाष : 033-71001614

मो. : 09830559364

ई-मेल :

bvm.vaicharik@gmail.com

वेबसाइट :

www.bharatiyavidyamandir.com

सदस्यता शुल्क

एक प्रति	70/- रुपये
वार्षिक	400/- रुपये
द्वैवार्षिक	800/- रुपये

सदस्यता शुल्क भेजने हेतु :–

Payee's Name :

BHARATIYA VIDYA MANDIR

Current A/c.No. : 32030320176

Bank : State Bank of India

Branch : New Market

IFSC Code No. : SBIN0004662

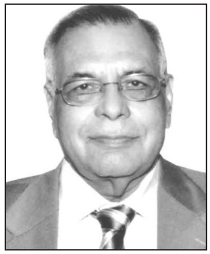

अध्यक्षीय

धर्म, पंथ और संस्कृति

धर्म का शाब्दिक अर्थ होता है धारण करने योग्य– धारयति इति धर्मः। इस धारण करने योग्य के दस लक्षण हैं– *धृति क्षमा दमोस्तेयं शौचमिंद्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो, दशकं धर्म लक्षणं।।* धैर्य, क्षमा, दम अर्थात वासनाओं पर नियंत्रण, अस्तेय अर्थात चोरी न करना, शौच अर्थात अंतरंग और बाह्य शुचिता, इंद्रियनिग्रह, धी यानी बुद्धिमत्ता, विद्या अर्थात ज्ञानार्जन की प्रवृत्ति, सत्य का पालन तथा अक्रोध। भारतीय सभ्यता-संस्कृति में यह धर्म की एक अनूठी अवधारणा है। विश्व की अन्य भाषाओं में इस अवधारणा के लिए समानार्थी शब्द का मिल पाना लगभग असम्भव है। इसका बहुप्रयुक्त अंग्रेज़ी पर्याय 'रिलीजन' इसे पूर्णता में अभिव्यक्त करने में अक्षम है। विडम्बना है कि हम धर्म, सम्प्रदाय और पंथ का समानार्थी प्रयोग करते हैं जबकि सम्प्रदाय और पंथ किसी धर्म के विभाग मात्र हैं। धर्म तो मानव-जीवन हेतु नैतिक मूल्यों, सिद्धांतों, नियमों, विश्वासों और आचरण की एक विशिष्ट प्रणाली है। संस्थागत धर्म में पूजा-उपासना की पद्धति; विचारों की परिभाषाएं तथा संगठनात्मकता होती हैं।

एक ही धर्म के अंतर्गत अलग-अलग परम्परा या विचारधारा मानने वाले समूहों या वर्गों को सम्प्रदाय अथवा पंथ कह सकते हैं। अतः सम्प्रदाय एक ही धर्म या आस्था के अंतर्गत उपसमूह हैं। सम्प्रदाय में अक्सर गुरु-शिष्य परम्परा का प्रचलन होता है और शिष्य अपने गुरु द्वारा प्रतिपादित परम्परा का न केवल पालन करते हैं, बल्कि उसे पुष्ट करने का काम भी करते हैं। पंथ तो अक्सर किसी एक महान व्यक्ति के अनुयायियों का समूह हुआ करता है जो उनके उपदेशों और उनकी शिक्षा का व उनके द्वारा निर्देशित आचार-विचार का अनुसरण करता है, यथा- इस्लाम, ईसाई आदि-आदि। 'धर्म' को सम्प्रदाय के अर्थ में कैसे प्रयुक्त किया जा सकता है? धर्म सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण के लिए होता है जबकि सम्प्रदाय एक परम्परा या उपासना-पद्धति को मानने वालों का एक छोटा समूह मात्र है। कर्तव्य-पालन, अहिंसा, न्याय और सदाचरण जैसे धर्म के मूल्य किसी साम्प्रदायिक सीमा में आबद्ध नहीं हैं, इन्हें मानव मात्र के लिए धर्म माना जाता है। मीमांसा दर्शन में प्रेरणा देने वाले को धर्म की संज्ञा दी गई है। यही कारण है कि धर्मनिरपेक्षता जैसा शब्द अपने अभिप्राय को ठीक-ठीक अभिव्यक्त नहीं करता। धर्म का एक अर्थ प्रकृति और स्वभाव है तो दूसरा अर्थ कर्तव्य भी है। कोई भी राज्य धर्म से निरपेक्ष कैसे हो सकता है? वह पंथनिरपेक्ष हो सकता है जैसा कि आचार्य विनोबा भावे कहते थे। धर्म के सापेक्ष रहते हुए हम पंथनिरपेक्ष हो सकते हैं। धर्म मूलभूत मानव मूल्यों पर आधारित होता है और इन्हीं मानव मूल्यों से धर्म प्रेरणा पाता है।

संस्कृति और अधिक व्यापक अवधारणा है जिसमें किसी विशिष्ट समाज के सामूहिक परिष्कार या परिष्करण का भाव विन्यस्त है। संस्कृति में धर्म, कला, विज्ञान, आस्था, रीति-रिवाज़, जीवन-शैली

सब सम्मिलित हैं। प्रत्येक समाज की अपनी विशिष्ट सामूहिक जीवन-शैली और आदर्श होते हैं और वही उसकी संस्कृति है। हम कह सकते हैं कि संस्कृति हमारे जीवनयापन करने की सम्पूर्ण विधि या परिष्कृत पद्धति है। संस्कृति शब्द संस्कृत के दो शब्दों 'सम्' और 'कृति' से मिलकर बना है। सम् उपसर्ग का अर्थ है 'अच्छा' और 'कृति' शब्द का अर्थ 'करना' होता है, 'सम्यक कृतिः संस्कृतिः'। इस अर्थ में यह 'संस्कार' का पर्याय है। मनुष्य की आन्तरिक और बाह्य क्रियाएं संस्कारों के अनुसार होती हैं। कृति शब्द की उत्पत्ति संस्कृत की धातु 'कृ' (करना) से हुई है। इस धातु से बनने वाले तीन शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण हैं - प्रकृति (मूल स्थिति), संस्कृति (परिष्कृत स्थिति), विकृति (अवनति की स्थिति)।

संस्कृति का अर्थ परिष्कृत होता है। इस अर्थ में संस्कृति का तात्पर्य उस तत्व से है जो व्यक्ति को परिष्कृत करता है। कुछ विचारकों का मानना है कि संस्कृत शब्द संस्कार से बना है, जो शुद्धिकरण की क्रिया की ओर संकेत करता है। अंग्रेजी में 'कल्चर' शब्द लैटिन शब्द 'कल्ट या कल्टस' से लिया गया है जिसका अर्थ है जोतना (भूमि पर हल चलाना), विकसित करना, परिष्कृत करना और पूजा करना। एग्रीकल्चर शब्द खेती की कला के लिए बना। बाद में कल्चर शब्द परिष्करण या संस्कारित करने के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। इस तरह समाज के सदस्य के रूप में हमारी सभी परिष्कृत उपलब्धियां संस्कृति के अंतर्गत आती हैं। कला, संगीत, साहित्य, वास्तुविज्ञान, शिल्पकला, दर्शन, धर्म और विज्ञान, जीवन-शैली सभी संस्कृति के ही पक्ष हैं। संस्कृति धर्म से अधिक व्यापक अवधारणा है। भारत में विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों और मतों के होते हुए भी संस्कृति हमारी एकता का आधार है।

हमारी संस्कृति हज़ारों वर्षों से विकसित होती आई है। संस्कृति का परिष्करण देश-काल और परिस्थिति के अनुसार अनवरत होता रहता है। समाज के प्रबुद्ध लोगों का दायित्व है– अपने युग के अनुरूप मानवीय मूल्यों पर आधारित संस्कृति का विकास करना। हमारी संस्कृति परम्परा से निरंतर प्रवहमान है। अतः इसमें कोई विच्छिन्नता का भाव नहीं है। इसीलिए इसे सनातन संस्कृति कहा गया है। दिनकर ने कहा है : हमने अपने मन्वन्तर में अपनी संस्कृति को प्राण दिया है। यह अत्यंत हर्ष का विषय है कि इधर कुछ युवा अध्येता प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के क्षेत्र में महत्वपूर्ण गवेषणात्मक अध्ययन के माध्यम से नई उद्‌भावनायें लेकर आ रहे हैं, जैसे गत दिनों भारतीय विद्या मंदिर और भारतीय संस्कृति संसद द्वारा संयुक्त रूप से आयोजित व्याख्यान-सत्र में 'Antiquity of India Through Indian Texts' विषय पर डॉ. रूपा भाटी का व्याख्यान इस दिशा में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। वास्तुविज्ञान के अध्ययन के पश्चात श्रीमती रूपा भाटी संस्कृत, नव्यन्याय और खगोलशास्त्र (Astronomy) के अध्ययन के माध्यम से प्राचीन भारत की सभ्यता और संस्कृति को उद्‌घाटित करने के काम में संलग्न हैं। मुझे इन नये अध्येताओं के अभ्युदय में प्राचीन भारतीय संस्कृति के अभ्युदय के बीज दृष्टिगोचर होते हैं।

संस्कृति केवल एक देश या समाज की ही नहीं होती है। हम एक व्यक्ति के विषय में कहते हैं सुसंस्कृत है। परिवार के संबंध में कहते हैं सुसंस्कृत परिवार है। समाज के संबंध में कहा जाता है, उसकी परंपरा के क्रिया-कलापों का वर्णन करते हुए कहते हैं - यह इस समाज की संस्कृति है। ये विभिन्न समाज हमारे देश के अभिन्न अंग हैं। इन सबको मिलकर एक संयुक्त संस्कृति का निर्माण होता है जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं। पश्चिम के देशों के क्रिया-कलापों को देखकर हम कहते हैं कि पश्चिमी संस्कृति है। दोनों संस्कृतियों का चित्र अलग-अलग उभरता है, जो इनके जीवन-मूल्यों में भी कुछ न कुछ भिन्नता दिखाता है। परंतु हमें वैश्विक राष्ट्रीय मानवीय संस्कृति की ओर अग्रसर होने का प्रयास निरंतर करना चाहिए तभी हमारा उद्‌घोष वसुधैव कुटुम्बकम् सार्थक होगा। ■

चंद्रयान-3 की चंद्रमा की सतह पर सफल 'सॉफ्ट लैंडिंग' भारतीय विज्ञान की बड़ी सफलता है। मैं इसरो के समस्त वैज्ञानिकों को इस महत्वपूर्ण उपलब्धि पर बधाई देता हूं जिन्होंने श्री एस. सोमनाथ के नेतृत्व में इस परियोजना को सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। भारत चंद्रमा के दक्षिणी ध्रुव पर उपस्थिति दर्ज़ कराने वाला विश्व का पहला देश हो गया है। यह एक महान उपलब्धि है। ■

❑❑

– डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

सम्पादकीय

स्वतंत्रता संग्राम में अपने सर्वस्व की आहूति देकर भी गुमनाम रह जाने वाले अथवा स्वतंत्रता के बाद सत्ता के द्वारा जान-बूझकर गुमनाम रख दिए गये शहीदों का सश्रद्ध स्मरण, उनके प्रति कृतज्ञ नमन सहित **77वें स्वतंत्रता दिवस पर हार्दिक बधाई एवं शुभकामनाएं।**

अपवित्र आख्यान

स्वतंत्रता प्राप्त हुए 77 वर्ष हो चुके हैं, परंतु यह विडंबना ही है कि स्वतंत्रता आंदोलन के समय जो राष्ट्रीयता दिखाई दी थी वह स्वतंत्रता के पश्चात निरंतर क्षीण ही होती गई। एक तो यह हमारी विविधता (जिस पर हम गर्व करते रहते हैं) की दुविधा में फँसी हुई है और दूसरी ओर धर्मनिरपेक्षता एवं कट्टर धार्मिकता तथा सामाजिक-सांस्कृतिक आग्रहों में उलझी हुई है। बड़ी विडम्बना यह है कि अभी भी हम भारतीय अथवा हिन्दुस्तानी न होकर हिन्दू (और उसमें भी पहले ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, सिक्ख व किसी अन्य धर्म-सम्प्रदाय या किसी जाति विशेष के हैं और उसमें ऊँच-नीच, छूत-अछूत) और मुसलमान, इसाई आदि हैं जिनकी अपने-अपने संस्कारों और परंपराओं के प्रति आग्रहशीलता तथा पारस्परिक तिक्तताओं व विरोधाभासों की अंतहीन अभिव्यक्तियां हैं, तो साथ ही धर्मनिरपेक्षता का पाखंड करते हुए धर्म-सापेक्ष राजनीतिक निर्णयों-नीतियों का दल-दल है, और हम इस 'अपवित्र आख्यान' (अब्दुल बिस्मिल्लाह का उपन्यास, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2022) को जीते रहने को मजबूर हैं।

स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास में वह अपवित्र आख्यान भी है जो देश-विभाजन की निरंतर साल रही और अभी भी समय-समय पर 'पाकिस्तान जिंदाबाद' के रूप में प्रकट होती रहने वाली त्रासदी से संबंधित है। वैसे तो इसकी पृष्ठभूमि में सदियों का अतीत है, तथापि अभी हम इसे 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों से शुरू कर सकते हैं जब महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वतंत्रता का आंदोलन प्रारंभ हो चुका था। इस प्रसंग में 'खिलाफत आंदोलन' (काजी मुहम्मद अदील अब्बासी, हिंदी अनुवादक- नूर नबी अब्बासी, प्रकाशक- राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली प्रथम संस्करण 2008) में महत्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख किया गया है। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान 1918 से 1925 ई. तक गांधीजी का जीवन और खिलाफत आंदोलन एक ही सूत्र में अनुस्यूत रहे। खिलाफत आंदोलन की प्रेरक शक्ति महात्मा गांधी थे जिन्होंने खिलाफत आंदोलन को, देश को एकताबद्ध करने अर्थात स्वतंत्रता आंदोलन से उदासीन मुसलमानों को स्वतंत्रता आंदोलन से जोड़ने के एक बड़े अवसर के रूप में देखा- पं. मोतीलाल नेहरू, चित्तरंजनदास, बिपिनचंद्र पाल, लाला लाजपत राय, पं. मदन मोहन मालवीय आदि भी इनके समर्थक थे। मुसलमानों के इस धार्मिक आंदोलन से हिंदू जी-जान से जुड़े और बड़ी-बड़ी सभाओं में वंदेमातरम् के साथ अल्लाहू-हो-अकबर के नारे लगाते थे, मुसलमान भी उनका साथ देते थे।

'खिलाफत' से खिलाफ (विरुद्ध) का संबंध नहीं है। इस्लाम के संस्थापक पैगम्बर मुहम्मद साहब (570-632 ई.) के बाद इस्लाम के वैश्विक प्रमुख को खलीफा कहा जाता था जो जनता द्वारा चुना जाता था और उसके शासन व उसकी इमामत को खिलाफत (धार्मिक साम्राज्य) कहा जाता था। मुहम्मद साहब के बाद अबु बकर, हजरत उमर, हजरत उस्मान और हजरत अली खलीफा हुए। इन चारों को राशिदुन अर्थात सही राह पर चलने वाले कहा जाता है। प्रारंभिक तीन खलिफाओं की राजधानी मदीना रही जबकि हजरत अली ने कुफ़ा को राजधानी बनाया। इनके बाद क्रमशः उम्मयद, अब्बासी और फातिमी खलीफा हुए जिनकी राजधानियां क्रमशः दमिश्क, बगदाद और काहिरा रही। इन तीनों ने इस्लामिक सिद्धांतों अर्थात मुहम्मद साहब द्वारा बताए रास्ते से हटकर खिलाफत को राजवंशीय बना दिया। वस्तुतः ये खलीफा नहीं रह कर बादशाह हो गए और खिलाफत को वंशानुगत बना दिया। उम्मदयन खिलाफत के समय ही मुहम्मद साहब के घरवालों पर नृशंस अत्याचार हुए और कर्बला की घटना हुई। इन तीनों के बाद उस्मानी (ऑटोमन तुर्क) वंश की खिलाफत रही जिसमें उस्मानी साम्राज्य का अंत होने तक नाममात्र का खलीफा पद इस्लाम की एकता का प्रतीक मात्र बना रहा। इस तरह गैर-अरब भी खलीफा बनने लगे और खिलाफत तुर्की पर केंद्रित हो गई। तुर्की की खिलाफत यूरोप, एशिया व अफ्रीका महाद्वीपों में मान्य थी। विश्व में कहीं भी कोई मुस्लिम राज्य स्थापित होता था तो उसके सुल्तान को खलीफा से सनद या मान्यता लेनी होती थी। हिन्दुस्तान में भी सल्तनत-काल (1206-1526 ई.) में सभी सुल्तान खलीफा से सनद प्राप्त करते थे। परंतु 1526 ई. में मुगल बादशाह बाबर ने उसे समाप्त कर स्वयं को स्वतंत्र बादशाह घोषित कर दिया। इस तरह हिन्दुस्तान में खलीफा के शासन या खिलाफत का अंत हो गया।

खिलाफत आंदोलन (1918 से 1925) का समय प्रथम विश्वयुद्ध का समय था। 1914 तक ब्रिटेन का मिस्र, ईरान, रूस पर कब्जा हो गया था। मोरक्को पर फ्रांस का कब्जा था। तुर्की पश्चिमी सीरिया का प्रांत होकर अफ्रीका में खो चुका था। भारतीय मुसलमानों ने 1897 में यूनान-तुर्की के तथा 1912 में बाल्कान के युद्ध में तन-मन-धन से तुर्की का सहयोग किया था। परंतु तुर्की और अखिल यूरोप के बीच लगभग 500 वर्षों से चल रहे युद्ध से तुर्की जर्जर होकर अंतिम सांसें ले रहा था। साथ ही यह भी चिंता व्याप्त हो गई थी कि कहीं ब्रिटेन, फ्रांस तथा यूनान इस्लाम के पवित्र स्थलों (मक्का, मदीना, बेत-उल-मुकद्दस) को नष्ट-भ्रष्ट न कर दें। इससे इस्लामिक जगत में अत्यंत निराशा फैल गई थी कि यह उस्मानी खिलाफत का झिलमिलाता दीपक बुझ गया तो संसार में मुसलमानों की प्रतिष्ठा मटियामेट हो जाएगी। इस उस्मानी खिलाफत को बचाने के लिए ही गांधीजी के नेतृत्व में जो आंदोलन हुआ उसे खिलाफत आंदोलन कहा जाता है।

1921 में यूनान और तुर्की के बीच जो युद्ध हुआ उसमें पासा पलट गया। तुर्की के सेनानायक मुस्तफा कमाल पाशा ने कमाल की रणनीति और बहादुरी से यूनान को हराकर तुर्की के अयोग्य सुल्तान अब्दुल वहीद खां को अपदस्थ कर अब्दुल मजीद खां को तुर्की का सुल्तान एवं खलीफा नियुक्त कर 1 नवंबर 1922 में तुर्की को यूरोपीय ढंग का गणतंत्र घोषित कर दिया तथा राजनीति एवं धर्म को अलग कर दिया। फिर मुस्तफा कमाल पाशा ने 3 मार्च 1924 को तुर्की की खिलाफत का भी अंत कर दिया जिससे वह एक धार्मिक साम्राज्य की बजाय एक सांसारिक राज्य मात्र रह गया, इससे भारत में खिलाफत आंदोलन का भी हास्यास्पद अंत हो गया और इसे चलानेवाले उबलकर रह गये, अखबारों में इस आंदोलन की खूब मजाक उड़ाई गई। परंतु जेल से रिहा होकर आए महात्मा गांधी ने 1924 में यंग इंडिया में लिखा, '... अगर मैं कोई पैगम्बर होता और मैं भविष्यवेत्ता होता और जानता कि खिलाफत आंदोलन का यह परिणाम निकलेगा, तब भी मैं खिलाफत आंदोलन में उतनी ही रुचि और तन्मयता से भाग लेता। यह खिलाफत का आंदोलन है जिसने राष्ट्र को जागृति प्रदान की, अब मैं इसे फिर से सोने न दूंगा', लोगों ने कहा 'खिसियानी बिल्ली खम्भा नोचे'।

गांधीजी को गलतफहमी हो गई थी कि मुसलमान राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़ गये हैं जबकि असल

में तो उनको केवल खिलाफत संबंधी अपने धार्मिक आंदोलन से मतलब था। ज्योंहि तुर्की में खिलाफत का अंत हुआ वे राष्ट्रीय आंदोलन से हटकर 'अलीगढ़ आंदोलन' से जुड़ गये। अलीगढ़ आंदोलन के प्रवर्तक सर सैयद अहमद खां थे जो अंग्रेजों और अंग्रेजी शिक्षा के प्रशंसक थे। इसी उद्देश्य से उन्होंने अलीगढ़ में कॉलेज की स्थापना की जिसे अब अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी कहा जाता है। उन्होंने धार्मिक संकीर्णता को प्रश्रय नहीं दिया। 1883 से 1894 तक वे अपने भाषणों में जिसे कौम कहते थे, उसका मतलब हिन्दू-मुसलमान दोनों अर्थात भारतीयता से था। परंतु बाद में भाषणों में उनके सुर बदल गए थे। वे स्वतंत्रता आंदोलन की सफलता से प्राप्त स्वतंत्रता के बाद शासन के प्रजातांत्रिक होने से आशंकित हो उठे थे और तब इस बात पर बल देने लगे कि मुसलमानों को कांग्रेस में शामिल नहीं होना चाहिए। उन्होंने कहा कि हिन्दुस्तान में प्रतिनिधि सरकार बनी तो मुसलमानों का भविष्य अंधकारमय होगा। हिन्दू और मुसलमान दो अलग-अलग कौमें हैं। उनका हिन्दू से मतलब सनातनी, बौद्ध, जैन, सिक्ख इत्यादि सभी गैर-मुस्लिमों से था। उनका सोच था कि अंग्रेज अपनी फौजें वगैरह लेकर चले जाएंगे तो यहां कौन शासन करेगा .... जाहिर है हिन्दुओं के वोट ज्यादा हैं तो वे ही करेंगे। अंततः 1917 ई. में उन्होंने 'दो धर्म दो राष्ट्र' का सिद्धांत प्रस्तुत किया।

मुसलमान धीरे-धीरे स्वतंत्रता आंदोलन से फिर उदासीन हो गये और अंततः गांधीजी के साथ अलीबंधु (मौलाना मुहम्मद अली, शौकत अली) और मौलाना अबुलकलाम आजाद जैसे चंद मुसलमान रह गये। अलीगढ़ आंदोलन की प्रतिक्रिया में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई जिसके अधिवेशनों में साम्प्रदायिकता से हटकर अंग्रेजों को कौम (हिन्दू-मुसलमान दोनों) का दुश्मन करार दिया जाता था। परंतु लीग के बंबई अधिवेशन में अलीगढ़ आंदोलन के अनुयायी होकर मो. अली जिन्ना ने साम्प्रदायिकता का रास्ता अख्तियार कर अंततः दो धर्म दो राष्ट्र सिद्धांत की जिद पकड़ ली और देश का बंटबारा हुआ। पहली बात तो धार्मिक आधार पर देश का बंटवारा स्वीकार ही नहीं किया जाना चाहिए था लेकिन गांधीजी ने स्वयं को लाश बनाये बिना और एक दिन का भी उपवास किये बिना इसे स्वीकार कर लिया, दूसरी बात यह कि सिर्फ मुसलमानों के लिए पाकिस्तान तो सिर्फ हिन्दुओं के लिए हिन्दुस्तान क्यों नहीं और वह धर्मनिरपेक्ष क्यों? दुर्भाग्य से यह धर्मनिरपेक्षता इस अपवित्र आख्यान में एक बहुत बड़ी उलझन के रूप में जम गई है। खासकर इसलिए भी कि हिन्दू तो स्वभावतः ही धर्मनिरपेक्ष होता है, यह तो अनगिनत विभिन्न आस्थाओं, विश्वासों, धर्मसम्प्रदायों, अवधारणाओं, परंपराओं, संस्कृतियों का समूह है, कट्टरता इसके स्वभाव में नहीं है, यहां तो सिर्फ मानवता है, मगर अब इसे कट्टरता की ओर बढ़ने को मजबूर होना पड़ रहा है, मुसलमानों को अपनी कट्टर धार्मिकता के संदर्भ में इसे समझना चाहिए। हिन्दुस्तान पाकिस्तान बन जाने पर भी गांधीजी ने घोषणा की कि जो मुसलमान हिन्दुस्तान में रहना चाहते हैं वे यहां रह सकते हैं, 3 करोड़ मुसलमान हिन्दुस्तान में रह गये ... नतीजा सब के सामने है, कभी-कभी महानताएं इतिहास में नासूर-सी रिसती रहती हैं। याद नहीं आता कि कभी किसी मुस्लिम नेता ने आतंकवाद, इस्लाम के नाम पर मारे जाने वाले हिन्दुओं, पाकिस्तान जिंदाबाद कहने और पाकिस्तान में हिन्दुओं पर मुस्लिमों द्वारा किये जाने वाले अत्याचार के विरुद्ध मुस्लिमों को फटकारा हो? हैं कुछ समझदार दानिशमंद, पर उनकी बात इस समाज में सुनी नहीं जाती, इसमें तो जोर-जबरदस्ती और खून-खराबा करने वालों की जय-जयकार होती है। हिन्दू-मुसलमान बिना किसी दुर्भाव के मिल-जुलकर रहें, इसका तो एक ही उपाय है- एक राष्ट्रीयता, एक कानून अर्थात भारतीयता।

स्वतंत्रता संग्राम को लेकर कहा जाता है और पढ़ाया जाता है कि स्वतंत्रता महात्मा गांधी ने दिलवायी, तब सरदार भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, खुदीराम बोस, सुभाषचन्द्र बोस जैसे आजादी के दीवाने सैंकड़ों-हजारों क्रांतिकारी जो स्वतंत्रता संग्राम में शहीद हुए, क्या उनका कोई योगदान नहीं है? 8 अगस्त 1942 को 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' का नारा देकर गांधीजी ने आंदोलन चलाया तो ब्रिटिश सरकार ने उनके सहित सभी प्रमुख कांग्रेसी नेताओं को गिरफ्तार कर बड़ी-बड़ी ऐशगाहों में 'कैद' कर दिया। यह भारत छोड़ो आंदोलन, आंदोलन था या और कुछ,

पता नहीं? वस्तुतः इस समय तक ब्रिटेन विश्वयुद्ध के कारण अत्यंत कमजोर हो चुका था और वहां कंजरवेटिव पार्टी की जगह लेबरपार्टी की सरकार बनने व भारत में बढ़ती विप्लवी घटनाओं जैसी अनेक ऐसी अनेक आंतरिक एवं अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियां बन चुकी थी जिनमें अन्य देशों पर कब्जा बनाए रखना इंगलैंड के लिए मुश्किल होता जा रहा था। उल्लेखनीय है कि ब्रिटेन ने 1947-1948 में भारत के अलावा अन्य कई देशों को भी आजाद घोषित किया था जहां भारत जैसा कोई स्वतंत्रता आंदोलन नहीं हुआ था। नेताजी सुभाष चन्द्र ने अद्भुत संघर्ष-क्षमता और शौर्य का परिचय देते हुए सिंगापुर में पहली स्वतंत्र भारत की सरकार बनाई, राष्ट्रीय ध्वज फहराया और इसे 11 देशों ने मान्यता भी दी परंतु कांग्रेस ने इसको नकारा। वस्तुतः गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने अपनी स्थापना (1885 ई.) के उद्देश्य के अपने मूल स्वभाव को बनाये रखा कि अंग्रेजों से मिल-जुलकर चलें जिससे वे आजादी बख्श दें, जैसे उनको 'मुगलों ने सल्तनत बख्श दी' थी। प्रथम व द्वितीय विश्वयुद्ध के समय अंग्रेजों पर आजादी के लिए दबाव डाला जा सकता था, परंतु महात्मा गांधी ने उस समय अंग्रेजों का पूर्ण सहयोग किया। यह उल्लेखनीय है कि कांग्रेस के विनम्र अनुरोध पर ब्रिटिश सरकार के अंतिम वायसराय-गवर्नर जनरल लॉर्ड माउंटबेटन ही आजाद भारत के भी प्रथम गवर्नर जनरल रहे और उन्होंने ही आजादी के प्रथम जश्न में सलामी ली थी। यही नहीं आजादी के बाद 1950, 1954 तक तीनों सेनाओं के प्रमुख भी अंग्रेज ही रहे और ब्रिटिश गुप्तचर एजेंसी तो लगभग दो दशक तक आजाद भारत में सक्रिय रही, जबकि पाकिस्तान में ऐसा कुछ नहीं किया गया और सभी अंग्रेज अधिकारियों को हटा दिया गया था।

पवित्र आख्यान

[इसमें कोई दो राय नहीं कि अंग्रेजों के शासन के परिणामस्वरूप ही पूरा भारत एक देश बनने के साथ सामाजिक जागरण, शिक्षा, प्रजातंत्र, ज्ञान-विज्ञान, इतिहास-संस्कृति, कला-साहित्य, आधुनिकता से संबंधित चेतना जैसी उपलब्धियां हमें हुई, परंतु अब हमारा दायित्व है कि हम इसमें भारतीयता का अर्थात भारतीय बौद्धिकता का सन्निवेश करें, उसे बढ़ाएं।]

2023 के स्वतंत्रता दिवस के तत्काल बाद 23 अगस्त का दिन अविस्मरणीय बन गया जब इसरो द्वारा भेजे गये **चंद्रयान-3** में से अलग होकर विक्रम ने चंद्रमा पर लैंड किया और प्रज्ञान ने वहां शोधकार्य प्रारंभ कर दिया, जय हो, जय हिंद!

❑❑

– डॉ. बाबूलाल शर्मा

❖ स्वयं अपने को लेकर मैं तो प्रतिदिन यही अनुभव करता हूं कि मेरे भीतर और बाहरी जीवन के निर्माण में कितने अगणित व्यक्तियों के श्रम और कृपा का हाथ रहा है और इसी अनुभूति से उद्दीप्त मेरा अंतःकरण कितना छटपटाता है कि मैं कम से कम इतना तो इस दुनिया को दे सकूं जितना कि मैंने उससे अभी तक लिया है। ***-आईंस्टाइन***

❖ जीवन में उम्र के साथ-साथ जो वस्तु मिलती है उसका नाम है अनुभव। केवल पुस्तकें पढ़कर इसे नहीं पाया जा सकता। ***-शरतचंद्र***

❖ जो अनुभव सम्पन्नता रूपी स्रोत का जल पीने से बचता है वह अज्ञानरूपी मरुस्थल में प्यासा मर जाता है। ***- लिङ्यो***

भारतीय संस्कृति की आत्मा : सरस्वती नदी व गीतोपदेश स्थली

रामशरण युयुत्सु

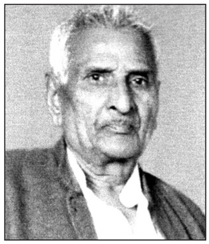

सरस्वती नदी

भारतीय संस्कृति के परिचय का आरम्भ ऋग्वेद के सूक्तों से होता है। उनमें वर्णित विचार ही वे आधार-स्तम्भ हैं जिन पर हिन्दू सभ्यता खड़ी है। ऋग्वेदीय सूक्त प्राचीन आर्यों के धर्म, सामाजिक संगठन, आर्थिक तथा सामाजिक रीतियों और उनके नैतिक आदर्शों की विज्ञप्ति के प्रधान स्रोत हैं। इस भारतीय संस्कृति के मुख्य मूलाधार दो हैं– भारतवर्ष की भूमि और वैदिक वाङमय। यह विश्व का सर्वमान्य सिद्धांत है कि उपलब्ध वाङमय में ऋग्वेद सरस्वती की वीणा की प्रथम झंकार है। अब यह भली भाँति विदित हो चुका है कि पुरातत्व से प्रकाश में आई दक्षिण एशिया की प्राचीनतम सभ्यता का केंद्र सिन्धु नहीं, सरस्वती घाटी था। इसी कारण अब इसे सिन्धु या हड़प्पा सभ्यता के स्थान पर सिन्धु-सरस्वती सभ्यता कहा जाने लगा है।

नवीन शोध-कार्यों से विदित होता है कि इस सभ्यता का प्रसार सरस्वती घाटी से प्रथमतः सिन्धु घाटी के निचले भागों में और तदुपरान्त अन्य क्षेत्रों में हुआ था। प्रवाह की दिशा सरस्वती से सिन्धु की ओर है; अतः इसे सरस्वती-सिन्धु सभ्यता कहना अधिक समीचीन है। यह स्पष्ट किया गया है कि वैदिक एवं सरस्वती-सिन्धु सभ्यताएं परस्पर भिन्न नहीं, अपितु एक ही मूल भारतीय सारस्वत सभ्यता की क्रमशः साहित्यिक एवं पुरातात्विक अभिव्यक्तियाँ हैं।

ऋग्वैदिक और सरस्वती-सिन्धु सभ्यताओं के भौगोलिक क्षितिज एक हैं और उनकी सांस्कृतिक संरचनाओं में अद्‌भुत सादृश्य है। कालक्रम की दृष्टि से सरस्वती-सिन्धु सभ्यता ऋग्वैदिक सभ्यता के अंतिम चरण से सम्बंधित है। इन्हें नगरीकरण और विचारधारात्मक प्रक्रियाओं के रूप में अलग-अलग परिभाषित करना गलत है। समाज जातीयावस्था से राज्य संस्थापक अवस्था में संक्रमित हुआ। इस सामाजिक एवं राजनीतिक विकास की निष्पत्ति अंततः एक नागर सभ्यता के रूप में हुई; जिसे हम विकसित सरस्वती-सिन्धु सभ्यता कहते हैं। इसके उषाकाल की झलक ऋग्वेद में स्पष्टतः प्रतिबिम्बित है।[1]

वैदिक एवं सरस्वती-सिन्धु सभ्यताएं अभिन्न हैं और सरस्वती-सिन्धु सभ्यता का देशज होना प्रमाणित है। अतः वैदिक सभ्यता और उसके निर्माता आर्यजनों का देशज होना स्वतः सिद्ध है। यह अकेला तर्क 'आर्य आक्रमण' अथवा 'आर्य आगमन' जैसे सिद्धांतों और उनके विविध संस्करणों को निरस्त करने के लिए पर्याप्त है। योरोपीय भाषाओं और संस्कृतियों में परिलक्षित समानताओं को 'आर्य आक्रमण/आगमन' नहीं अपितु 'आर्य बहिर्गमन' सिद्धांत के आधार पर ही स्पष्ट किया जा सकता है।[2] ऋग्वैदिक एवं सरस्वती-सिन्धु सभ्यताओं की अभिन्नता तीन प्रामाणिक आकलनों पर आधारित है। पहला यह कि दोनों का भौगोलिक क्षितिज एक ही है,

दूसरा यह कि दोनों की कालावधियाँ अंशतः आच्छादित हैं और तीसरा यह कि दोनों की सांस्कृतिक संरचना में अद्‌भुत सादृश्य है।

भारतीय संस्कृति की मूल आत्मा है सरस्वती। उसे जानना और उसके विभिन्न काल खंडों में विभाजित स्वरूप का साक्षात्कार करना एक प्रकार से समग्र भारतीय चेतना का प्रत्यक्ष दर्शन है जिसके दोनों तटों पर वैदिक साहित्य सृजित हुआ और कालान्तर में अनेक ऋषियों व देवताओं के तीर्थ, आवास, सरोवर स्थापित हुए, वे मानो सहस्त्रों वर्षों की जीवित सरस्वती के प्रवाह को प्रकट करते हैं। जिसका अवगाहन करते हमारे पूर्वज अघाते नहीं थे। बाद के युगों में मूलतः नदी 'सरस्वती' देवी सरस्वती के रूप (मूर्तिरूप)) में परिकल्पित हुई और पूरी भारतीय मनीषा को उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करने में समर्थ हुई।

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के मूल आधार पर चर्चा करने से पूर्व यहाँ यह स्पष्ट करना उचित होगा कि जिस सभ्यता के आर्य प्रणेता रहे, उस हड़प्पीय सभ्यता की वे इति कैसे करेंगे? जब सरस्वती सूखने लगी तो उस समय के लोग पश्चिम दिशा में सिन्धु तट के आस-पास पूर्व दिशा में गंगा-यमुना क्षेत्र और दक्षिण में गुजरात में, जहाँ जीवन यापन के लिए सहज रूप से जल उपलब्ध था, वहाँ पहुँच कर निवास करने लगे। सिन्धु सभ्यता के समय जितना महत्त्व सिन्धु का रहा, उतना ही सरस्वती का रहा।

ऋग्वेद के छठे मण्डल के 61वें सूक्त में सरस्वती की सबसे अधिक जानकारी उपलब्ध है। इसमें 14 मन्त्र हैं, जिनकी रचना ऋषि भरद्वाज बृहस्पतिय ने की– *इयं शुष्पेभिर्बिसखा इवारूजत्सानु गिरीणांतवि-षेभिरुर्मिभि। पारावतध्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः।।* (ऋग्वेद 6.61.2)। 'हे सरस्वती मां! आपका शक्तिशाली प्रवाह आपके पर्वतीय तटों को सहज रूप से ऐसे नष्ट कर रहा है, जैसे कमलनाल को उखाड़ा जाता है। हे माता! हम भक्तिपूर्वक आपकी सेवा में तत्पर हैं। आप हमारी रक्षा करें।'

जटिल पहेली यह है कि ऋग्वैदिक आर्यों की संस्कृति भी इसी सरस्वती के तट पर पल्लवित हुई। यह कैसे हुआ? क्या सिन्धु सभ्यता के लोग और ऋग्वैदिक आर्य सरस्वती की घाटी में आबाद हुए थे। सरस्वती के तट पर वैदिक साहित्य का सृजन हुआ। सरस्वती की इस अतुलनीय देन के कारण ही इस प्रदेश को 'सारस्वत प्रदेश' कहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। महाभारत युद्ध के समय सरस्वती का प्रवाह राजस्थान में कालीबंगा और अनूपगढ़ में एक था तथा बलराम ने उसकी तीर्थ यात्रा की थी।

यहाँ प्रख्यात पुरातत्ववेत्ता डॉ.बी.बी.लाल (1998) को उद्धृत करना उचित होगा, 'जैसे-जैसे हड़प्पीय नगर अदृश्य होने लगे, वहाँ के लोग अपनी परम्पराएँ व कार्य करने की शैली लेकर सुरक्षित स्थानों पर पहुँचे। वे अपने साथ बैलगाड़ी, खेती करने की विधि और रोटी पकाने के तन्दूर ले गए। भारत में वर्तमान में महिलाओं के शृंगार के विविध आभूषण के प्रारूप आदि पूर्व की तरह ही लगते हैं। उसी प्रकार से आज यहाँ शिव की पूजा हो रही है। अतः हड़प्पीय सभ्यता अकस्मात समाप्त नहीं हुई, उसकी उपस्थिति भारतीय उपमहाद्वीप में निरन्तर बनी रही है।[3] अतः यह कहना सार्थक होगा कि भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का उदय व उन्नयन सरस्वती की गोद में हुआ था। प्राकृतिक कारणों से सरस्वती के विलुप्त होने के साथ शनैः शनैः उसका विस्तार शेष भारत में हुआ।

हरियाणा प्रदेश का उज्ज्वल इतिहास अत्यन्त प्राचीन और गौरवपूर्ण है। भारतीय आर्य संस्कृति का उन्मेष स्थल ब्रह्मावर्त, इसी प्रदेश की देव नदियों सरस्वती और दृषद्वती के अन्तराल में स्थित है। मनुस्मृति में उल्लेख है– *सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। तंदेवनिर्मितं देशंब्रह्मावर्त प्रचक्षते।।* ब्रह्मावर्त का ही दूसरा नाम कुरुक्षेत्र है। इसकी पहचान में महाभारत में कहा गया है– *दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्युत्तरेण च। ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे।* जो सरस्वती के दक्षिण और दृषद्वती के उत्तर में कुरुक्षेत्र में निवास करते हैं, वे स्वर्ग में रहते हैं। इन्हीं परम पावनी नदियों के तटों पर ऋग्वेद के युग में शक्तिशाली भरतों ने विश्वमित्र और वशिष्ठ के पौरोहित्य में अनेक यज्ञ किए।[4]

एक मान्यता के अनुसार पृथ्वी के प्रथम मानव का जन्म भारत में हिमालय के त्रिविष्टप प्रदेश में हुआ माना जाता है। नालन्दा शब्द सागर (आदिश बुक डिपो दिल्ली) में जहाँ त्रिविष्टप प्रदेश को आज का तिब्बत क्षेत्र दशार्या

गया है, वहीं 'संस्कृत-हिन्दी कोश' (मोती लाल बनारसीदास पब्लिशर्स- प्रा. लि. दिल्ली) में त्रिविष्टप को इन्द्रलोक व स्वर्ग कहा गया है। वहाँ से मानव सर्वप्रथम भारत के विभिन्न भागों में फैला। इसी समय मानवों की संस्कृति भारत में विकसित हुई।[5] धारणा है कि वैदिक सरस्वती के किनारे प्रथम मानव रामापिथेकस का जन्म हुआ और वही आगे चलकर सिनान्थ्रोपस, ऑस्ट्रेलोपिथेकस, होमोभीमपियन, होमोभीमबेटकीय के रूप में विकसित हुआ। सरस्वती क्षेत्र में जन्मे मानव ने जागतिक मानवीय प्रगति का पथ प्रशस्त किया। उसी में वैदिक, परशु-भारतीय, सुमेर और यूरोपीय सभ्यताओं का विकास पथ भी प्रशस्त होता गया है।

मनु ने ठीक ही कहा है कि सरस्वती और दृषद्वती के बीच के 'देवानिर्मित देश' से ही पृथ्वी के सर्वमानवों ने अपना-अपना चरित्र सीखा है– *एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।* वैदिक सरस्वती नदी के तट पर ही मनु, कुरु, पांचाल, इक्ष्वाकु, चायमान, सवरण आदि राजाओं ने अपने नगरों, राज्यों तथा यज्ञ-परम्पराओं की वृद्धि की तथा सारस्वत सभ्यता को उन्नति-पथ पर अग्रसर किया। वैदिक काल में इस नदी का सर्वाधिक गतिशील, उर्वरा शक्ति की प्रेरिका, नदीतमा के रूप में हिमालय से निकलकर 'आसमुद्रात' बहने का उल्लेख है।

हवाई सर्वेक्षण एवं सैटेलाइट से प्राप्त जानकारी के अनुसार इसका फैलाव 8 किलोमीटर का रहा होगा। किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों एवं परवर्ती श्रौत-सूत्रों के उल्लेखों से पता चलता है कि इनके समय में सरस्वती का प्रवाह लुप्त हो रहा था और यह समुद्र तक न जाकर राजस्थान में किसी स्थान पर समाप्त हो गई जान पड़ती थी; जिसे 'विनशन' नाम से सम्बोधित किया गया।

आद्यवैदिक अर्थात हड़प्पा पूर्व काल में इसके तट पर नागर सभ्यता का विकास प्रारम्भ हुआ तथा पूर्ण विकसित हड़प्पीय काल (Mature Harappan) में इसके तट पर स्रुघ्न युगंधर, पृथुदक, अग्रोदक, शैरीधिक, कालीबंगा, रंगमहल और बनावली आदि विशाल नगर प्रतिष्ठापित हुए। अधिकतर पाश्चात्य विद्वानों तथा उनके अन्धानुयायी कुछ भारतीय विद्वानों ने इनमें से अधिकांश नगरों को मुअन-जोदड़ो, हड़प्पा, कालीबंगा, सोठी, मिताथल सुरकोटड़ा, लोथल, माहिष्मती एवं कपित्थ आदि पुरा-स्थलों को तथाकथित सिन्धु घाटी की सभ्यता से जोड़ा है और इसे वैदिक सभ्यता से भिन्न बतलाया है। परन्तु स्वर्गीय डॉ. पद्मश्री विष्णु श्रीधर वाकणकर ने हड़प्पीय सभ्यता का नामकरण 'सारस्वत सभ्यता' किया है; क्योंकि मूलतः इसका विकास सरस्वती क्षेत्र में हुआ।[6]

वस्तुतः सिन्धु स्थलों के उत्खननों से प्राप्त अनेक पुरावस्तुएं वैदिक कर्मकाण्ड से सम्बंधित हैं– पात्रों पर रुद्र के चित्र, वैदिक देवी सिनीवाली की मृतिका-प्रतिमा, इस देवी की शान्ति के लिए प्रयुक्त शत छिद्र कृभियां, यज्ञ कुण्ड, यज्ञ कुण्डों में अर्पित वैदिक पद्धति की मृतिका-मुष्टियां, हड़प्पा का ऋग्वेद में उल्लेख आदि अनेक आन्तरिक और बाह्य प्रमाण बतलाते हैं कि इस सभ्यता का वैदिक सभ्यता से गहरा सम्बंध था। वैदिक कालगणना के अनुसार इस सभ्यता को हम वेदोत्तर उपनिषद् काल से सम्बंधित कर सकते हैं।

हड़प्पीय अथवा प्राक्हड़प्पीय स्थानों की संस्थिति भी सिन्धु की अपेक्षा सरस्वती नदी के तट पर ही अधिक हैं। सरस्वती नदी के तट पर ऐसे एक सौ से अधिक स्थान मिले हैं जिनमें हड़प्पीय सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए हैं। अब तो हड़प्पा से भी पहले की सभ्यता के अवशेष मिल गए हैं जिन्हें प्राक्हड़प्पीय या सोठी सभ्यता का नाम दिया गया है।[7] डॉ. गाई पिलग्रिम ने चण्डीगढ, पिंजौर के आसपास से मिली एक खोपड़ी का वैज्ञानिक अध्ययन करने के पश्चात यहाँ लगभग डेढ़ करोड़ वर्ष पूर्व मानव के बसने की बात कही थी। डॉ. एस. ए. क्यू. कुरेशी ने बाद में डॉ. पिलग्रिम की तिथि को और भी पीछे धकेल दिया। विश्वास है कि लगभग तीन करोड़ वर्ष पूर्व यहाँ मानव बस्तियाँ बसनी आरंभ हो गई थीं।

जिला अम्बाला गजेटियर (सन 1983-84), हरियाणा में प्रवाहित सरस्वती नदी को सिरमौर-नाहन की शिवालिक पहाड़ियों से अवतरित होने वाली आदिबद्री प्राचीन देवालय के समीप प्रवाहित नदी के कुरुक्षेत्र तक पहुँचने का मार्ग दृश्यादृश्य गतिप्रवाह के रूप में लिखता है कि यह नदी वही सरस्वती है, जो ब्राह्मणकालीन भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध है। जिला अम्बाला के राजस्व रिकॉर्ड के पुराने मानचित्रों

में भारत की ब्रह्मनदी सरस्वती का प्रवाहित मार्ग-स्थान आज भी स्पष्ट मिलता है। इतना ही नहीं सरस्वती पर जहाँ भी कोई सड़क-पुल या रेलवे पुल बनाया गया है। वहां साफ शब्दों में सरस्वती नदी का नामोल्लेख किया मिलता है। जिला अम्बाला की तत्कालीन तहसील जगाधरी के व्यासपुरे (बिलासपुर) कस्बे में हाल ही में बनाया गया; चण्डीगढ़ वाली सड़क का सरस्वती नदी का पुल इसका साक्षी है। उत्तर भारत की अम्बाला-सहारनपुर रेलवे लाइन पर मुस्तफाबाद स्टेशन के निकट का रेलवे पुल 'सरस्वती पुल' नाम से आज भी जाना जाता है!

ऋग्वैदिक सरस्वती नदी की पुनर्खोज से वैदिक इतिहास, पुरातत्व और संस्कृति के क्षेत्र में एक नये युग का सूत्रपात हुआ है। वैदिक संस्कृति के सम्बंध में हमारा सारा ज्ञान अभी तक लगभग पूर्णतः साहित्य पर आधारित रहा है। किन्तु अब यह स्पष्ट हो चुका है कि सरस्वती-सिन्धु सभ्यता वैदिक संस्कृति के ही परवर्ती ऋग्वैदिक नागरावस्था की अभिव्यक्ति है। अतः अब सरस्वती-सिन्धु सभ्यता की विपुल पुरातात्विक सामग्री का उपयोग वैदिक संस्कृति के अध्ययन, विशेषतः उसके भौतिक सांस्कृतिक पक्ष के उद्घाटन के लिए किया जा सकता है। वैदिक संस्कृति के सातत्य के प्रकाशन में भी इस पुरातात्विक सामग्री से अत्यधिक सहायता प्राप्त हो सकती है।

इस दिशा में बी. बी. लाल ने पहल भी कर दी है। वर्ष 2002 में प्रकाशित अपनी नवीनतम कृति का उन्होंने अत्यन्त उपयुक्त नामकरण 'द सरस्वती फ्लोज ऑन' (सरस्वती प्रवाहित है) किया है। इस महत्त्वपूर्ण प्रलेख में उन्होंने सप्रमाण यह दिखाया है कि हमारी अनेक सामाजिक-धार्मिक प्रथाएँ अत्यंत प्राचीन काल से अब तक अविछिन्न रूप से विद्यमान हैं। इस सम्बंध में उन्होंने योगासनों की प्रथा, हाथों को जोड़कर (करबद्ध) प्रणाम करने की प्रथा आदि कई प्रथाओं का प्रमाण प्रस्तुत किया है, जो सरस्वती-सिन्धु (अर्थात परवर्ती ऋग्वैदिक) सभ्यता में प्रचलित थी और आज भी प्रचलित हैं।

हमारे लिए यह गौरव का विषय है कि ऋग्वेदकालीन सरस्वती-सिन्धु सभ्यता की विशेषताएँ आज भी भारत में लगभग ज्यों की त्यों विद्यमान हैं। नगर परिकल्पना, कृषि एवं भाषा, यज्ञ एवं यज्ञकुण्ड, यज्ञ-पात्र, पीपल एवं शमी वृक्ष का पूजन, पशुपतिनाथ और मातृ देवता, नन्दी, पुजारी, आभूषण, नर्तकी इत्यादि के रूप में इस सभ्यता के जो प्रतीक प्राप्त हुए हैं, उनकी हमारे आज के समाज में विद्यमान वस्तुओं से आश्चर्यजनक समानता हमें हर्ष-विह्वल कर रही है। हमारी आज की संस्कृति प्राचीन ऋग्वैदिक सरस्वती संस्कृति के साथ समरूप दिख रही है; वे परस्पर आत्मरूप हैं।

युगाब्द-5087 (ई. सन 1985) में पद्मश्री विष्णु श्रीधर वाकणकर के नेतृत्व में सरस्वती शोध अभियान के समय जो तथ्य सामने आए वे ज्ञानवर्धक-मार्गदर्शन के लिए बहुत उपयोगी हैं। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में सरस्वती नदी के सम्बन्ध में अग्रलिखित मान्यताएं प्राप्त होती हैं–

1. पञ्च्धा सरस्वती (पूर्व वेदकालीन प्रवाह) (वाजसंहिता-38/11, वामनपुराण 13/20)। 2. सप्तस्वशा सरस्वती (ऋग्वेदकालीन)। (ऋग्वेद 1.33.12, 10.76.5)। 3. अन्तःसलिला सरस्वती (लोकमान्यता)। (एरिड जोन जोधपुर द्वारा सरस्वती के पूर्व प्रवाह मार्गों पर अथाह जल स्रोतों की खोज)। 4. सरस्वती के उद्भेद, नागोद्भेद (पुष्कर), शिवोदभेद (कोटेश्वर अम्बाजी), चमंसोद भेद। (महाभारत में बलराम का सरस्वती-यात्रा प्रकरण, प्रहलाद का सरस्वती-यात्रा प्रकरण-वामन पुराण)। 5. इसका पात्र (पाट) इतना विशाल था कि यह क्षितिज तक फैली थी अर्थात आँखों से इसका किनारा देख पाना असम्भव था।

ऋग्वेद में यद्यपि सरस्वती के सूखने का कोई स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता, परन्तु इन्द्र-वृत्रासुर युद्ध, सामराकस-जामदग्नि युद्ध, वाणासुर-जामदाग्नि युद्ध, दासराज युद्ध, विरोचन-इन्द्र युद्ध, शम्बर-दिवोसान युद्ध इस बात का संकेत करते हैं कि उस समय जल संकट के कारण आपस में संघर्ष था और परशुराम-काल तक आते-आते यह क्षत्रियों के सर्वनाश का कारण बना।[8]

सर्वेक्षण के मध्य सरस्वती के विभिन्न प्रवाहों का अध्ययन करने के समय यह बात स्पष्ट रूप से सामने आयी कि सरस्वती नदी का लोप सैकड़ों वर्षों में नहीं हुआ, अपितु हजारों लाखों वर्षों में हुआ जिसके कारण रहे होंगे- 1. अत्यधिक भयंकर बाढ़ एवं प्रवाह-मार्ग का परिवर्तन, 2. पर्यावरण असंतुलन, 3. भूकम्पनी, भूगर्भीय एवं ज्वालामुखीय परिवर्तन, 4. तटवर्ती निवासियों के धाराप्रवाह

बदलने एवं रोकने के प्रयत्न, 5. अतिवृष्टि-अनावृष्टि एवं रेतीले तूफान, 6. समुद्री तूफान एवं नदी प्रवाह का पलटना। इनके अतिरिक्त सरस्वती के विलुप्त होने के अन्य तीन प्रमुख कारण भी हैं। उसके हिमजल का अवरुद्ध होना, उसकी दो प्रमुख सहयोगिनी दृषद्वती और शतुद्रि का विछोह तथा शिवालिक पाद क्षेत्र में वर्षा का अभाव।[9] इन कारणों के साथ-साथ कुछ विद्वान साल्ट रौकी एरिया के कारण सरस्वती का लुप्त होना मानते हैं। तथापि आज भी थोड़ी अधिक वर्षा होने पर सरस्वती नदी के सभी प्रवाह मार्ग प्रवाहमान हो उठते हैं। जबकि ऐरिड जोन अन्तःसलिला सरस्वती नदी की मान्यता के आधार पर सरस्वती के पूर्व पैलियो चैनल्स पर ट्यूबवैल (नल-कूप) लगाकर राजस्थान के रेगिस्तान क्षेत्र में अथाह पानी दे रहे हैं। जिनके कारण अब वहाँ का कृषक खेती व बागवानी करने लगा है।

अमेरिका की अंतरिक्ष एजेंसी (नासा) के पश्चात भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (Isro) के जोधपुर स्थित क्षेत्रीय सुदूर संवेदनशील सेवा केन्द्र का अनूठा योगदान रहा है। उन्होंने भू-उपग्रह छाया चित्रों की सहायता से सरस्वती के शुष्क प्रवाह मार्ग का संधान किया और भू-उपग्रह छाया-चित्रों का विश्लेषण करके सरस्वती के प्रवाह मार्ग का प्रारम्भ से अन्त तक का नक्शा (मानचित्र) तैयार कर समस्त विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया। उसके आधार पर पश्चिमी राजस्थान में सरस्वती रूपा नहर योजना के कारण पीने के लिए एवं कृषि के लिए प्रभूत मात्रा में भू-जल सुलभता से मिलने लग गया है।

पुरातात्विक सर्वेक्षण एवं उत्खनन के साथ ही अंतरिक्ष उपग्रह द्वारा लिये गये छायाचित्रों के माध्यम से सरस्वती नदी के पुराने प्रवाह-मार्ग का अब पता लग गया है। इस कारण वैदिक सरस्वती नदी एक निरी पुराण-कल्पना मात्र नहीं रही, अपितु उसे एक भौगोलिक सत्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इस नदी की पहचान आज विवादातीत है। इतना ही नहीं अपितु भारतीय वैज्ञानिकों ने दूसरों के माध्यम से इस नदी के पुरा प्रवाह-मार्गों में ऐसे अनेक स्थान निश्चित किये हैं जहाँ कूप-नलिकाएँ खोदकर अन्तःसलिला सरस्वती नदी का अथाह जल भूपृष्ठ पर लाना सुलभ हो गया है। इन निर्धारित स्थलों पर जहाँ-जहाँ कूप-नलिकाएँ खोदी गई, वहाँ-वहाँ मीठे पानी के प्रवाह छलक आए हैं। प्रारम्भिक प्रयत्नों द्वारा सरस्वती भूपृष्ठ पर अंशतः ही सही, इस रूप में पुनः प्रवाहित हो गई है।

ऋग्वैदिक नदी सरस्वती की वर्तमान खोज से भारतीय इतिहास को सही परिप्रेक्ष्य में समझने का आधार प्राप्त हुआ है। इस कार्य में अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना की अग्रणी भूमिका है। स्वर्गीय डॉ. विष्णु श्रीधर वाकणकर के नेतृत्व में योजना के 'वैदिक सरस्वती शोध अभियान दल' ने न केवल इस नदी से सम्बन्धित प्रचुर साहित्यिक एवं पुरातात्विक स्रोत सामग्री का संकलन किया; अपितु इसके अवतरण-स्थल शिवालिक पहाड़ियों की तराई में शिमला के उत्तर-पूर्व स्थित आदिबद्री (जिला यमुनानगर) से इसके सागर संगम क्षेत्र गुजरात के प्रभास पाटन (सोमनाथ) तक यात्रा कर इसके सूखे जलमार्गों का भौतिक सर्वेक्षण तथा किनारों पर स्थित प्राचीन स्थलों का गहरा स्थलीय अध्ययन भी किया।

सरस्वती के इस आधुनिक अन्वेषण के क्रम में जो तथ्य प्रकाश में आये हैं, इनमें से कई ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ, यह तथ्य कि यह नदी ईसा पूर्व 1900 तक लगभग जलहीन हो चुकी थी, एक निर्णायक तथ्य है। इससे यह सुनिश्चित हो जाता है कि ऋग्वेद जो सरस्वती को पर्वत से समुद्र तक घोर गर्जना करते हुए बहने वाली तथा 'वेगवती नदियों में सर्वाधिक वेगवान' नदी के रूप में चित्रित करता है और जिसमें इस नदी के सूखने या इसमें जल की कमी का कहीं कोई संकेत तक नहीं देता, वह ई.पू.1900 के बहुत पहले ही रचा जा चुका था। इस तथ्य ने पूर्व प्रचलित उस धारणा को निर्मूल सिद्ध कर दिया है, जिसमें ऋग्वैदिक काल को हड़प्पा युग का परवर्ती माना जाता था। डॉ. रामविलास शर्मा (1994) का यह कथन शत-प्रतिशत सच है कि सरस्वती भारत के प्राचीन इतिहास की कालविभाजक रेखा है। आर्य आक्रमण सिद्धांतवादियों के लिए उसे लांघ पाना सम्भव नहीं है।[10]

यह ध्यान देने की बात है कि उत्तर वैदिक काल में वैदिकोत्तर साहित्य में कहीं भी सरस्वती नदी के सूख जाने का उल्लेख नहीं है, सर्वत्र उसके अदृश्य या लुप्त हो जाने (विनशन) की बात कही गई है। परंतु इसके लुप्त क्षेत्र

में हो रहे प्रयासों से जिस क्षेत्र में भू-जल स्तर 85 फुट तक गिर गया हो, वहां केवल 8-9 फुट पर ही जलधारा बह निकली। जरा सी गहराई पर पानी के स्रोत का मिलना, उस 'भगीरथ प्रयास' का परिणाम है, जिसके अधीन लुप्त हो चुकी सरस्वती नदी को तलाशा जा रहा है। कई दिनों से सरस्वती नदी के उद्‌गम स्थल मान जाने वाले आदिबद्री क्षेत्र में बिलासपुर स्थित गांव मुगलवाली के पास चल रही खुदाई में 5 मई, 2015 को अचानक जलधारा फूट पड़ी। मात्र 7-8 फुट की गहराई पर ही प्रचुर मात्रा में पानी फूट पड़ा। यमुनानगर प्रशासन के अनुसार नदी की यमुनानगर में 55 कि.मी. लम्बाई होगी तथा यह 43 गांवों से होकर कुरुक्षेत्र जिला में प्रवेश करेगी। इस अभियान के लिए आज (2015) की हरियाणा सरकार ने 50 करोड़ रुपये जारी किये गये थे।

खुदाई कार्यक्रम का शुभारम्भ आदिबद्री क्षेत्र से 5 कि.मी. दूरी पर स्थित गांव रूलाहेड़ी से किया गया था। कहा जाता है कि भविष्य में यहां एक बड़ा जलाशय बनाया जायेगा और पहाड़ों पर होने वाले वर्षा और सोमनदी के पानी को एकत्रित करके सरस्वती नदी को नदी के रूप में प्रवाहित किया जायेगा। सरस्वती के मिलने पर जो उत्सव आजकल मनाया जा रहा है, वास्तव में वह 88 वर्षीय वृद्ध एवं सरस्वती नदी शोध संस्थान के संस्थापक श्री दर्शनलाल जैन के परिश्रम का प्रतिफल है। उन्होंने सरस्वती नदी के लिये वर्ष 1999 में इस संस्थान की स्थापना की और तब से अनवरत संघर्ष कर रहे हैं। यह प्रक्रिया पूरी तरह वैज्ञानिक है। सैटेलाईट के माध्यम से नदी का रूट (मार्ग) बनाया गया और फिर खुदाई शुरू की गई। पूरी टीम को सफलता मिली। पानी बहुत साफ, मीठा ौर स्वादिष्ट है। अब ह भी शोध का विषय बन गया है कि क्या सरस्वती की धारा ऊपर उठ रही है।

सरस्वती नदी की खोज के लिए प्रेरणा देने वाले मातृभूमि के एक भक्त मा. मोरोपंत जी पिंगले तथा उन्हीं संस्कारों में पले-बढ़े, मातृभूमि भक्त कर्मयोगी-अन्वेषक हरिभाऊ विष्णु श्रीधर वाकणकर तथा राष्ट्रप्रेमी अन्य कई लोग, इन सबने मिलकर सरस्वती नदी की खोज-यात्रा की; रूपरेखा बनाकर, उसे क्रियान्वित भी कर दिखाया। भारतीय पुरातत्व के इतिहास में बीसवीं शताब्दी अत्यंत ही महत्वपूर्ण रही। इसी शताब्दी के पूर्वार्ध में मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा की खोज हुई। शताब्दी के मध्य में भीमबेटका की खोज हुई। बीसवीं शताब्दी की इन खोजों ने विश्व का इतिहास ही बदल दिया है।

संदर्भ :

1. शिवाजी सिंह, ऋग्वैदिक आर्य और सरस्वती-सिन्धु सभ्यता, भारतीय इतिहास संकलन समिति, वाराणसी, वर्ष-2004, पृष्ठ फ्लैप कवर। **2.** शिवाजी सिंह, ऋग्वैदिक आर्य और सरस्वती-सिन्धु सभ्यता, भारतीय इतिहास संकलन समिति, वाराणसी। **3.** देवेंद्र सिंह चौहान, पुण्यसलिला-सरस्वती नदी, बाबा साहेब आप्टे स्मारक समिति, बंगलोर, वर्ष 2004, पृष्ठ 139-140। **4.** युयुत्सु रामशरण, हरियाणा की लोक परम्परा में सृष्टि रचना विचार, श्री अंगिरा शोध संस्थान, जींद, पृ.16। 5. युयुत्सु रामशरण, हरियाणा की लोक परम्परा में सृष्टि रचना विचार, श्री अंगिरा शोध संस्थान, जींद, पृ.5। **6.** वैदिक सरस्वती नदी शोध अभियान : एक परिचय, युग-युगीन कुरुक्षेत्र, इतिहास संकलन समिति हरियाणा, कुरुक्षेत्र, पृष्ठ-160। **7.** वैदिक सरस्वती नदी शोध-अभियान : एक परिचय, युग-युगीन कुरुक्षेत्र, इतिहास संकलन समिति हरियाणा, कुरुक्षेत्र, पृष्ठ-160। **8.** व्वैदिक सरस्वती नदी शोध-अभियान : एक परिचय, युग-युगीन कुरुक्षेत्र, इतिहास संकलन समिति हरियाणा, कुरुक्षेत्र, पृष्ठ-**160**। **9.** विश्वबन्धु शशीन्द्र, वैदिक सरस्वती नदी लुप्त होने के कारण, इतिहास दर्पण (पत्रिका), अखिल भारतीय इतिसाह संकलन योजना, नई दिल्ली, वर्ष प्रथम, अंक-2, पृ-17। **10.** शिवाजी सिंह, ऋग्वैदिक आर्य और सरस्वती-सिन्धु सभ्यता, भारतीय इतिहास संकलन समिति, वाराणसी, वर्ष-2004, पृष्ठ-आमुख 3। ■

गीतोपदेश स्थली

19 से 21 दिसम्बर, 2015 को एक सुखद अवसर मिला, जब हरियाणा सरकार द्वारा 'कुरुक्षेत्र महोत्सव व गीता जयन्ती समारोह' का कुरुक्षेत्र के साथ-साथ हरियाणा के अन्य सभी जिलों में भी पहली बार आयोजन किया गया। इन सभी समारोहों में भारतीय संस्कृति के साथ-साथ हरियाणा के इतिहास, संस्कृति, जनजीवन और अन्य विभिन्न गतिविधियों से भी अवगत कराया गया। इस अनुष्ठान से एक सुषुप्त पड़े प्रश्न को पुनर्जागृत कर दिया कि भगवान श्री कृष्ण ने महारथी अर्जुन को गीता का उपदेश कहाँ दिया था? कौरव-पाण्डवों की सेना के मध्य में अथवा कुरुक्षेत्र (स्थाणेश्वर) के एक कोने, तरन्तुक यक्ष के समीपवर्ती स्थान, वर्तमान के ज्योतिसर में ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्वविद्यालय, माउँट आबू (राज.) द्वारा प्रकाशित 'ज्ञानामृत' मासिक पत्रिका में भी कई प्रश्न उठाये गये हैं। ज्योतिसर में स्थित 'अक्षय वट' पर प्रश्न किया गया है कि 'कुरुक्षेत्र में एक सरोवर है, जिसे

'ज्योतिसर' कहा जाता है। यहाँ एक वट वृक्ष है, जिसे लोग बहुत पवित्र मानते हैं। कुरुक्षेत्र का माहात्म्य बताते हुए पण्डे लोग कहते हैं कि भगवान कृष्ण ने यहाँ अर्जुन को गीता का उपदेश दिया था। वे इस वृक्ष को उस उपदेश का साक्षी बताते हैं और इसे 'अक्षय (अविनाशी) वट' अर्थात श्रीकृष्ण के समय से यहीं खड़ा हुआ वृक्ष मानते हैं। इसी वृक्ष के आसपास एक चबूतरा बना हुआ है, जिसके दोनों ओर के स्तम्भों पर लिखा है-'गीता मण्डप'। इस वृक्ष को देखने से कोई सामान्य व्यक्ति भी कहेगा कि यह इतना पुराना नहीं है, चाहे तो किसी वनस्पति विज्ञानवेत्ता से इसकी आयु का निर्णय करा लें। इससे तो कलकत्ता के बॉटैनिकल गार्डन का वटवृक्ष बहुत पुराना है। परन्तु अन्ध-श्रद्धा का क्या कहना?[1]

विद्वानों ने अपने स्वार्थवश हमारे प्राचीन ग्रंथों के ज्ञान को भी अपने अनुकूल बना लिया। गीता प्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित महाभारत (आदि पर्व अ.1 श्लोक, 81-82) में उल्लेख है कि– *अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च। अहं वेदिम शुकोवेत्ति संजयोवेत्ति वा न व।। तच्छ्लोककूटमद्यापि ग्रंथितं सुदृढं मुने। भेत्तुं न शक्यतेऽर्थस्य गूढत्वात् प्रश्रितस्य च।। 82।।*

इस ग्रंथ में आठ हजार आठ सौ श्लोक ऐसे हैं, जिनका अर्थ मैं समझता हूँ, शुकदेव समझते हैं और संजय समझते हैं या नहीं सन्देह है। मुनिवर! वे कूट श्लोक इतने गुथे हुए और गम्भीरार्थक हैं कि आज भी उनका रहस्य भेद नहीं किया जा सकता; क्योंकि उनका अर्थ भी गूढ़ है और शब्द भी योगवृत्ति और रुढ़वृत्ति आदि रचनावैचित्र्य के कारण गम्भीर हैं। इसी रहस्य और गूढ़ता का लाभ उठाकर कुछ अवसरवादी, विद्वान अपनी सुविधानुसार किसी भी ज्योतिसर को कहीं भी स्थापित कर लेते हैं।

गीता का उपदेश किस स्थान पर दिया गया, प्रश्न का उत्तर खोजने से पूर्व 'कुरुक्षेत्र' के नगर तथा भूमि का परिचय खोजना जरूरी है। वास्तव में वर्तमान के कुरुक्षेत्र की पहचान एवं प्रसिद्धि यहाँ पर स्थित 'कुरुक्षेत्र जंक्शन' रेलवे स्टेशन से प्रारम्भ होती है। यहाँ पर रेलवे स्टेशन बनने से पूर्व इसके समीपवर्ती नगर का नाम इतिहास-प्रसिद्ध स्थाणेश्वर (स्थानेश्वर) स्थानीय उच्चारण में थानेसर ही था। तथ्य स्पष्ट है कि यहाँ रेलवे स्टेशन बनने से पहले कुरुक्षेत्र नाम का कहीं भी, कोई भी गाँव या नगर अथवा जनपद नहीं था।

अंग्रेज सरकार ने इतिहास को खण्डित, भ्रमित करने की अपनी दूरदर्शी योजना के अन्तर्गत 'कुरुक्षेत्र' नाम से रेलवे स्टेशन का निर्माण किया। महाभारतकालीन इतिहास में 'कुरुक्षेत्र' किसी नगर जनपद का नाम न होकर राजा कुरु द्वारा जिसकी भूमि पर चलाए गये हल 48 कोस की परिधि वाले उस क्षेत्र भू-भाग का नाम है; जहाँ कौरव-पांडवों के बीच महायुद्ध लड़ा गया था। इस भूमि को गीता- महाभारत में 'धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र' की संज्ञा दी गई ।

अभी तक कुरुक्षेत्र के नाम पर जहाँ भी, जितना भी लिखा गया, उसमें 48 कोस की सीमा (परिधि) में आने वाले दक्षिण भाग को उपेक्षित ही रखा गया। इस उपेक्षित क्षेत्र को, जो अधिकतर वर्तमान जीन्द जनपद में आता है, हम यहाँ इस आलेख में 'दक्षिणाञ्चल कुरुक्षेत्र' का नाम देंगे।

महाभारत युद्ध से पूर्व आदि काल में इस क्षेत्र (कुरुक्षेत्र) की पहचान जीन्द नगर के दक्षिण में स्थित रामहृद (रामराय) के नाम पर भी रही है– *आद्यैषा ब्रह्मणो वेदिस्ततो रामहृदः स्मृतः। करुणा च यतः कृष्टं कुरुक्षेत्रं ततः स्मृतम्।। तरन्तुकारन्तुकयोर्यदन्तरै यदन्तरं रामहृदाच्चतुर्मुखम्। एतत्कुरुक्षेत्रसमन्तपञ्चकं पितामह-स्योत्तरवेदिरुच्यते ।।* (वामन पुराण अ. 22 श्लोक 58-59) आदि में यह 'ब्रह्मवेदी' कहा गया था, किन्तु आगे चलकर इसका नाम 'रामहृद' हुआ। उसके बाद राजर्षि कुरु द्वारा जोते जाने से इसका नाम 'कुरुक्षेत्र' पड़ा। तरन्तुक यक्ष एवं अरन्तुक यक्ष नाम के स्थानों का मध्य तथा कपिल यक्ष (रामहृद) एवं (चतुर्मुख) मचक्रुक यक्ष का मध्य भाग समन्तपंचक है, जो कुरुक्षेत्र कहा जाता है। इसे पितामह (ब्रह्मा) की उत्तरवेदी भी कहते हैं।

उपरोक्त में कहीं भी कुरुक्षेत्र नगर का सन्दर्भ नहीं। कुरुक्षेत्र रेलवे स्टेशन से लगभग 8 किलोमीटर की दूरी पर, पेहवा राजमार्ग पर, सरस्वती नदी के किनारे वर्तमान में 'ज्योतिसर' नामक स्थान है। कुछ विद्वानों के द्वारा स्थापित (प्रचारित) लोकमान्यता के अनुसार ज्योतिसर वह भूमि है, जहाँ पर भगवान श्रीकृष्ण ने महाभारत युद्ध के प्रारम्भ होने से पूर्व मोहग्रस्त एवं विषादपूर्ण अर्जुन को गीता का

दिव्य ज्ञान देकर, उससे कर्तव्य की ओर प्रेरित किया था। इस समय इस ज्योतिसर सरोवर के तट पर एक वट स्थित है। इसके समीप में ही श्वेत संगमरमर से निर्मित कृष्ण-अर्जुनारूढ़ रथ सुशोभित है। यद्यपि ज्योतिसर के गीता उपदेश स्थली होने का कोई प्राचीन प्रमाण नहीं है। प्राचीन साहित्य में भी इसका कोई सन्दर्भ नहीं देखा गया।

48 कोस की परिधि वाली युद्धभूमि कुरुक्षेत्र के एक कोने में खड़े होकर भगवान श्रीकृष्ण द्वारा गीता उपदेश दिये जाने पर अनेक विद्वानों ने संदेह प्रकट किया है। यह स्थान विद्वानों तथा स्थानीय जनों की दृष्टि में विशेष रूप में तब आया, जब सर्वप्रथम आज से लगभग 150 वर्ष पूर्व कश्मीर के महाराजा, जो कुरुक्षेत्र भ्रमण के लिए यहाँ पधारे थे, यहाँ एक शिव मंदिर का निर्माण करवाया था। 1967 में कामकोटि पीठ के शंकराचार्य जी के प्रयास से कृष्ण-अर्जुन रथ तथा आदिशंकराचार्य जी के मंदिर का निर्माण हुआ[2]। इस तीर्थ के जीर्णोद्धार में कुरुक्षेत्र विकास बोर्ड के प्रयास भी उल्लेखनीय हैं। विकास बोर्ड तीर्थ के पुनर्निर्माण एवं इसे अधिक विकसित स्वरूप देकर आकर्षक बनाने की दिशा में निरन्तर प्रयासरत है। हरियाणा पर्यटन विभाग ने ज्योतिसर में पेहवा राजमार्ग पर जलपानगृह के साथ-साथ यात्रियों की सुविधा के लिए एक विश्राम गृह का भी निर्माण किया है। अब यह स्थान पर्यटन स्थल अधिक उचित लगता है। क्योंकि लोक आस्था के साथ-साथ वर्तमान में ज्योतिसर एक आकर्षक पर्यटन स्थल बनकर उभरा है।

48 कोस की कुरुक्षेत्र भूमि के उत्तरी भाग स्थाणेश्वर (अब कुरुक्षेत्र) को विद्वानों ने बहुत महिमामंडित किया है, इसके दक्षिणी भाग (दक्षिणांचल कुरुक्षेत्र) के लिए तो उतना भी नहीं लिखा गया, जितने का वह अधिकारी था अथवा जितनी उसकी महिमा रही है। कुरुक्षेत्र की 48 कोस की परिधि के दक्षिण में स्थित जीन्द का क्षेत्र, जिसको 'दक्षिणांचल कुरुक्षेत्र' का नाम दिया जा सकता है, सदैव केवल उपेक्षा का शिकार ही नहीं रहा, अपितु इस की पहचान भी धूमिल रही है। इस भू-भाग को चर्चित तथा विकसित करवाने की दृष्टि से इस आलेख के लेखक ने अपनी विभागीय सेवानिवृत्ति के पश्चात 'दक्षिणांचल कुरुक्षेत्र' विकास समिति जीन्द' का निर्माण करके उसके मंच पर प्रतिष्ठित चिन्तक,लेखक दोरड़ गाँव निवासी वनमालीदत्त शर्माजी की अध्यक्षता में जीन्द के विद्वानों की एक बैठक बुलाई थी। इसके प्रयासों से रानी तालाब के विकास कार्य का प्रारम्भ तो जरूर किया गया, परन्तु अन्य विषय लोप ही रहे। भगवान वराह[3] एवं भगवान परशुराम की अवतारस्थली तथा इन्द्रसुत जयन्त व भगवान श्रीकृष्ण की कर्मस्थली जयन्तपुरी क्षेत्र को सबसे बड़े दो आघात तब लगे, जब रामह्रद (रामराय) के प्राचीन तीर्थ 'सन्निहित' को यहाँ से परिवर्तित करके स्थाणेश्वर की सीमा (वर्तमान का कुरुक्षेत्र) में स्थापित किया गया, जिससे सभी विद्वानों, लेखकों, इतिहासकारों का केन्द्र बिन्दु कुरुक्षेत्र बन गया।

कुरूक्षेत्र दक्षिणांचल क्षेत्र को सबसे बड़ा आघात तब मिला, जब स्थाणेश्वर (कुरुक्षेत्र) की सीमा के उत्तरी भाग को गीता-स्थली बनाकर महिमा-मण्डित कर दिया गया। गीता-उपदेश स्थली के ऐतिहासिक भूगोल को इस कदर भ्रमित किया जा सकता है, यह विश्वास से परे की बात है। महाभारत की युद्ध भूमि की उत्तरी सीमा के एक कोने में, आखरी सीमा रेखा पर स्थित यक्ष के आसपास खड़े होकर भगवान श्रीकृष्ण ने गीता का इतना विशाल एवं गूढ़ उपदेश कौरव सेना शिविर में जाकर कैसे दे दिया? महाभारत युद्ध के आरम्भ होने से पूर्व महारथी अर्जुन ने अपने अन्तरंग मित्र एवं सारथी श्रीकृष्ण से कहा कि युद्ध की इच्छा रखने वाली दोनों सेनाओं के बीच में मुझे ले चलो– *सेन योरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।। यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्भकामानवास्थितान्। कैर्मयासह योद्धव्यमस्मिन्रण-समुद्यमे ।।* (महाभारत भीष्मपर्व अ. 25 श्लोक 21-22)। हे अच्युत! कृपा करके मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिए, जिससे मैं यहाँ उपस्थित युद्ध की अभिलाषा रखने वालों को और शस्त्रों की इस महान परीक्षा में, जिनसे मुझे संघर्ष करना है, उन्हें देख सकूँ।

यह प्रमाणित है कि इस युद्धभूमि की उत्तर दिशा में दुर्योधन की कौरव सेना तथा दक्षिणी भाग में युद्धिष्ठिर की पाण्डव सेना तैनात थी और दोनों सेनाओं के बीच में व्यूह रचना की दृष्टि अन्तर्गत कुछ भाग (क्षेत्र) को खाली रखा गया था। विश्वसनीय तर्क है कि इसी खाली क्षेत्र में श्रीकृष्ण ने अर्जुन का रथ लाकर खड़ा किया था; और

इसी स्थान पर ही अर्जुन ने दोनों सेनाओं का अवलोकन करते हुए अपने पूर्वजों (परिवारजनों) बन्धु-बाँधवों को देखा था। इसी स्थान पर ही अर्जुन को अपनों का मोह हो गया था। दोनों सेनाओं के आमने-सामने खड़े होने पर, मध्य का भाग (क्षेत्र) पुण्डरी तथा राजौन्द के मध्य का क्षेत्र बनता है। यहीं श्रीकृष्ण ने विषादग्रस्त अर्जुन को गीता का गूढ़ उपदेश देकर,अपना विराट् रूप दिखाया था।

48 कोस की परिधि वाली कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में पाण्डव सेना का पड़ाव तथा शिविर निर्माण की दिशा दक्षिण दिशा (दक्षिणांचल या यों कहें जीन्द का क्षेत्र) होने के प्रमाण उपलब्ध हैं। यह प्रमाण भी जुटाने की आवश्यकता नहीं है कि जीन्द की भूमि समतल तथा इतनी चिकनी व उर्वरा है कि जहाँ पर घास और ईंधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। जीन्द के समीप स्थित वराह-वन (बड़ा-बीड़), महाभारत काल में पानीपत से लेकर हिसार तक फैला था। यहाँ घास और ईंधन का अथाह भण्डार था। यही स्थिति देखकर ही पाण्डव पुत्र राजा युधिष्ठिर ने इस क्षेत्र में अपने शिविर स्थापित किये थे–

ततो देशे समे स्निग्धे प्रभूतयवसेन्धने। निवेशयामास तदा सेनां राजा युद्धिष्ठिरः।। (महाभारत उद्योगपर्व अ. 152 श्लोक-1) तदन्तर राजा युद्धिष्ठिर ने एक चिकने और समतल प्रदेश में जहाँ घास और ईंधन की अधिकता थी, अपनी सेना का पड़ाव डाला। महाभारत युद्ध के समय कौरव-पाण्डवों की सेना को तैनात (व्यवस्थित) किये जाने की स्थिति को महाभारत में इस प्रकार दर्शाया गया है। धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन की सेना कुरुक्षेत्र के पश्चिम भाग में व्यवस्थित रही– *ते समेत्ययथान्यायं धर्तराष्ट्रा महाबलाः।*

कुरुक्षेत्रस्य पश्चार्धे व्यवातिष्ठन्त दंशिता (महाभारत उद्योगपर्व अ. 195 श्लोक-1)। धृतराष्ट्र के वे महाबली पुत्र रणक्षेत्र में जाकर कवच आदि से सुसज्जित हो, कुरुक्षेत्र के पश्चिम भाग में यथोचित रूप से खड़े हुए।

समरांगण के लिये पाँच योजन स्थान दोनों सेनाओं के मध्य में सुरक्षित छोड़ दिया गया था– *पंचयोजनमुत्सृज्य मण्डल तद्रणाजिस्म्। सेनानिवेशास्ते राजन्नाविशंछत-संधशः।। (महाभारत उद्योगपर्व अ.195 श्लोक-15)* समरांगण के मध्य पाँच योजन का घेरा छोड़कर सैनिकों के ठहरने के लिये सौ-सौ की संख्या में कितनी ही श्रेणीबद्ध छावनियाँ डाली गयी थी। पाण्डव पक्ष के सैनिकों को कौरव पक्ष के सम्मुख ठहराया गया यथा– *अभियाय च दुर्धर्षो धर्तराष्ट्रस्य वाहिनीम्। प्राङ्मुखाः पश्चिमे भागेन्य विशन्त ससैनिकाः।। 5।। (महाभारत भीष्म पर्व अ. अध्याय-1 श्लोक-1)*।

पाण्डवों के योद्धा लोग अपने-अपने सैनिकों के सहित धृतराष्ट्र पुत्र की दुर्धर्ष सेना के सम्मुख जाकर पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख होकर ठहर गये थे– *समन्तपञ्चकाद्बाह्य शिविराणि सहस्रशः। कारयामास विधिवत् कुन्तीपूत्रो युधिष्ठरः।। 6।।* कुन्तीनन्दन युधिष्ठर ने समन्तपञ्चक क्षेत्र से बाहर-बाहर यथा योग्य सहस्त्रों शिविर बनवाये थे। पाण्डु-पुत्र महाराज युद्धिष्ठिर के साथ महारानी द्रोपदी भी युद्धक्षेत्र में उनके साथ ही आई थी– *उपल्पव्ये तु पाञ्चाली द्रोपदी सत्यवादिनी सह्न स्त्रीभिर्निववृते दासीदाससमावृता।। (महाभारत उद्योग पर्व अ.151 श्लोक-60)*। पाञ्चाल राजकुमारी सत्यवादिनी द्रोपदी दास-दासियों से घिरी हुई, कुछ दूर तक महाराज के साथ गयी, फिर सभी स्त्रियों के साथ उपप्लव्य नगर में लौट गई।

ज्ञातव्य है कि उपप्लव्य नगर मत्स्य देश की राजधानी विराट्नगर का उपनगर था। जो पाण्डु-पुत्रों के मित्र राजाओं में से कुरुक्षेत्र के दक्षिण में सबसे निकट, सुरक्षित तथा विश्वसनीय स्थान था। भगवान श्रीकृष्ण के शिविर भी दक्षिणाञ्चल कुरुक्षेत्र में स्थित होने के संकेत भी सरलता से उपलब्ध हैं– *आसाद्य सरितं पुण्यां कुरुक्षेत्रे हिरण्वतीम्। सूपतीर्थो शुचिजलां शर्कराप्ल वर्जिताम्।। खानयामास परिखां केशवस्तत्र भारत। गुप्त्यर्थमपि चादिश्य बलं तत्र न्यवेशयत्।। (महाभारत उद्योग पर्व अ.152 श्लोक 7-8)*। भरतनन्दन जनमेजय! कुरुक्षेत्र में हिरण्वती नामक एक पवित्र नदी है, जो स्वच्छ एवं विशुद्ध जल से भरी है। उसके तट पर अनेक सुन्दर घाट हैं। उस नदी में कंकड़, पत्थर और कीचड़ का नाम नहीं है। उसके समीप पहुँच कर भगवान श्रीकृष्ण ने खाई खुदवाई और उसकी रक्षा के लिए पहरेदारों को नियुक्त करके वहीं सेना को ठहराया।

आगे की पंक्तियों में यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि हिरण्वती नदी इसी दक्षिणांचल क्षेत्र में होकर बहती थी; जिसका वर्तमान स्वरूप चेतंग है, जिसके किनारे पर वर्तमान का जीन्द बसा हुआ है।

उस समय सतलुज तथा यमुना की कुछ धाराएँ सरस्वती नदी में आकर मिलती थी। इसके अतिरिक्त दो अन्य लुप्त हुई नदियाँ दृषद्वती और हिरण्वती भी सरस्वती की सहायक नदियाँ थीं। लगभग 1900 ईसा पूर्व तक भू-गर्भी बदलाव की वजह से यमुना तथा सतलुज ने अपना मार्ग बदल लिया तथा दृषद्वती नदी के भी 2600 ई.पू. सूख जाने के कारण सरस्वती नदी लुप्त हो गयी।

अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि सभी नदियाँ हिमालय की तलहटी से निकल कर मैदान में उतरी हैं। इनमें से कई नदियों का मार्ग जीन्द जनपद (दक्षिणांचल कुरुक्षेत्र) के क्षेत्र में प्रवाहमान रहा है। इन नदियों की पहचान समय की गति के अनुसार बदलती भी रही है। विद्वान एम.एल. भार्गव के मतानुसार दृषद्वती का मार्ग फलकी वन और कौशिकी के आस-पास रहा है।[4]

यह भी कहना है कि महाभारत काल में दृषद्वती, रौप्या नदी कहलाती थी। यह भी प्रमाणित है कि परशुराम के पिता महर्षि जमदग्नि का आश्रम जिला जीन्द में स्थित जामनी गाँव (जो आज भी चैतंग नदी के तट पर है) में था- *एतच्चर्चीकपुत्रस्य योगैर्विचरतो महीम्। प्रसर्पणं महीपाल रौप्यायाममितौजसः।। (महाभारत वन पर्व अ.-129 श्लोक-7)*[5] । महाराज! योग शक्ति से सारी पृथ्वी पर विचरने वाले महा तेजस्वी ऋचीकनन्दन जमदग्नि का प्रसर्पण (घूमने फिरने का स्थान) तीर्थ है, जो रौप्या नामक नदी के समीप (तट पर) सुशोभित है। एक अन्य मतानुसार वैदिक काल में उल्लेखित दृषद्वती का ही दूसरा नाम हिरण्वती नदी जाना गया है।[6] सम्भव है इसे रौप्या-दृषद्वती भी वर्णित किया जाता रहा हो?

महाभारत में आये वर्णन में हिरण्वती नदी को कुरुक्षेत्र की पवित्र नदी के नाम से भी जाना गया है। इस नदी के तट पर ही भगवान श्रीकृष्ण ने अपने शिविर का निर्माण कराया था। इस नदी का मार्ग भी फलकी वन से होकर सोमतीर्थ से (जीन्द होकर) रामह्रद की ओर जाता है। एम.एल. भार्गव के मतानुसार भी हिरण्वती नदी की पहचान दृषद्वती नदी की किसी शाखा के रूप में, जो फलकी वन से होकर नीचे की ओर (दक्षिणांचल कुरुक्षेत्र में) बहती थी, के रूप में की गई है।'[7]

नदियों के बहाव व स्थिति से यह तो स्पष्ट हो ही गया है कि पाण्डव सेना के पड़ाव तथा शिविर कुरुक्षेत्र-भूमि के दक्षिणांचल अर्थात वर्तमान के जीन्द जनपद में ही रहे थे। इसी ही क्षेत्र से चलकर अर्जुन का रथ उत्तर की ओर (पुण्डरी-राजौन्द मध्य के आस-पास) दोनों सेनाओं के बीच में ले जाया गया था।

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि भगवान श्रीकृष्ण ने गीता का गूढ़ उपदेश (ज्ञान) पिपली के निकट, तरन्तुक यक्ष के पास, कुरुक्षेत्र के अन्तिम छोर पर, स्थाणेश्वर शहर के अति निकट, पेहवा मार्ग पर दोनों सेनाओं के मध्य में, 48 कोस की परिधि की भूमि के मध्य में, जो लगभग पुण्डरी-राजौन्द के मध्यवर्ती स्थान, में दिया था। गीता उपदेश -स्थली का गाँव शेरधा का होना सम्भावित है। गाँव शेरधा के उत्तर-पश्चिम अक्षीय एक पंचरथ मंदिर है, जो उत्तर मध्यकालीन शैली में निर्मित है। मंदिर के छज्जे एवं बाहरी भाग के भित्ति चित्र नष्ट हो चुके हैं।

पुण्डरी-राजौन्द मार्ग पर पुण्डरी से 15 किलो मीटर की दूरी पर स्थित शेरधा गाँव में उपलब्ध एक तीर्थ का वर्णन पौराणिक साहित्य के अन्तर्गत चक्ररूप मिलता है। सम्भवतः कालान्तर में चक्रतीर्थ ही चक्रमणि के नाम से जाना जाने लगा। बह्मपुराण (86/1) में वर्णित है कि- 'उस तीर्थ में भक्तिपूर्वक स्नान करने से मनुष्य विष्णु लोक को प्राप्त करता है। 'सम्भवतः चक्ररूप श्रीकृष्ण के सुदर्शन चक्र तथा विष्णु लोक उसके श्रीचरण को दर्शाते हैं।

सन्दर्भ :

1. ज्ञानामृत,मासिक,सम्पादक जगदीशचन्द्र, वर्ष-11 अंक-12 अप्रैल-1976,पृष्ठ-37, **2.** 48 कोस कुरुक्षेत्र भूमि की परिक्रमा, कुरुक्षेत्र विकास बोर्ड कुरुक्षेत्र,-1999, पृष्ठ-38, **3.** वामन पुराण अ.-13 श्लोक-19 से 22, **4.** M.L. Bhargav OP.CIT,PP-57-58, **5.** महाभारत वनपर्व अ.-29 श्लोक-7, **6.** Sasanka Sehkar Parui, Kurukshetra in the Vaman Purana, Punthi Pustak Calcutta, 1976 PP-36, **7.** M.L. Bhargav OP.CIT, PP-58 ■

श्री अंगिरा शोध संस्थान,
390/5, शांति नगर, पटियाला चौक,
जीन्द-126102 (हरियाणा), मो. 9416387432

(गत वर्ष रामशरण युयुत्सुजी का देहावसान हो गया। आप वैचारिकी से बराबर जुड़े रहे, सादर स्मरण। -सम्पादक)

❑❑

दक्षिण भारत में पुराकाल में आर्यों का आगमन और परिणाम

डॉ. एम. शेषन

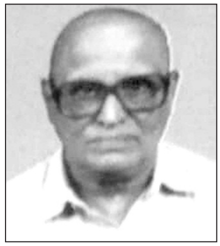

पुराकाल में आर्य जनसमूह उत्तर भारत से निकलकर दक्षिण में बड़े पैमाने पर प्रवेश करने लगा था। उस युग में विंध्याचल जैसे पर्वतीय प्रदेशों को लांघ कर दक्षिण के अन्दर प्रवेश करना उनके लिए बड़ा ही दुष्कर कार्य रहा होगा। इसी भांति दण्डकारण्य, जैसे बीहड़ वन को पार कर दक्षिण में प्रवेश करना उनके लिए कठिन कार्य ही रहा होगा। फिर भी बड़े ही साहस के साथ वे लोग दक्षिण भारत के अन्दर प्रवेश करने में सफल हुए। दक्षिण भारत के अन्दर प्रवेश करने पर वे स्थायी रूप से यहीं बस गये और कालान्तर में स्थानीय द्रविड़ भाषी जनसमूह के साथ घुल मिल गये तथा उनकी जीवन-शैली और आदतों को भी अपनाने लगे। दक्षिण भारत और उत्तर भारत के बीच ई. पू. तीसरी शताब्दी से ही बड़े पैमाने पर वाणिज्य-व्यापार चलता रहा। तमिल प्रदेश के कुछ गाँव और शहर अपनी कुछ खास वस्तुओं की उत्पत्ति के लिए मशहूर थे। पांड्य प्रदेश के मुक्ताओं की प्रशंसा मेगस्तनीज नामक विदेशी यात्री अपने यात्रा-विवरण में करते हैं। ताम्रवर्णी, कपाटपुरम जैसे स्थानों में प्राप्त मोती, मृदुरै में बने सूती कपड़े आदि का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कपड़ों की बुनाई में उरैयूर मशहूर बन चुका था। बुनकरों का पेशा तमिलनाडु का सबसे पुराना पेशा रहा है और कृषि कर्म के साथ इसका भी महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। तमिल प्रदेश का माल बंगाल के सागर के द्वारा ही उत्तर भारत पहुंचता था। सड़क मार्ग से व्यापार बहुत सीमित ही रहा।

उत्तर भारत के साथ हुए व्यापारिक संपर्क से तमिल प्रदेश को अनेक लाभ अवश्य हुए और साथ ही कुछ अहित भी हुए भारत के वणिक लोग अपने माल सहित छोटे छोटे झुंड में तमिलनाडु में प्रवेश करने लगे। सभ्यता की दृष्टि से आर्य और द्रविड़ों के बीच काफी अंतर पाये जाते हैं। आर्यों के देवता तमिल देवताओं से भिन्न थे। आर्यों की जीवन शैली तथा तमिलों की जीवन शैली में भी अंतर पाया गया। तमिल प्रदेश में प्रवेश करने वाले आर्य लोगों में अनेक लोग के यहीं बस गये और यहां के स्थानीय जनों के साथ घुल-मिलकर तथा तमिल भाषा सीखकर तथा तमिलों के रीति-रिवाज और आदतों से परिचित होकर उन्हें अपने जीवन में उतारते हुए तमिल प्रजा के रूप में रहने लगे। अपने को स्थानीय लोगों के अनुकूल बनाने की उनकी मानसिकता में देखी गयी। लेकिन, फिर भी उनके मन की गहराई में, हम उत्तर भारतीय हैं, हमारी सभ्यता, रीति रिवाज और परंपरायें तमिलों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, यह भावना रही। कालान्तर में तमिल प्रदेश के राजाओं का सद्भाव और सहयोग इन लोगों ने प्राप्त कर लिया था। आर्य भाषा की ध्वनियों को तमिल भाषा के साथ मिलाने लगे। तमिल भाषा के लिए वे ध्वनियां और शब्द नये और अपरिचित थे। साथ ही अपनी आदतों, रीति रिवाजों, परम्पराओं, धार्मिक विचारों, उपासना पद्धतियों को तमिल प्रदेश में धीरे धीरे प्रचलित करने लगे। इस प्रकार कालान्तर में शनैः शनैः दो भिन्न जन-जातियों का अद्भुत सम्मिश्रण होने लगा। यह सम्मिश्रण अचानक एक दो दिन में नहीं हुआ होगा। कुछ तमिल

लोगों के मन में यह प्रवाद प्रचलित हो गया कि तमिल प्रदेश आर्यमय हो गया है। लेकिन उनके विचारों के लिए कोई पुष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं है। अतः इस विचार को मानने की कोई तुक नहीं है। लेकिन यह सच है कि अनेक युगों में विकसित एक जातीय सभ्यता और संस्कृति के बीच बाहर से आये एक भिन्न सभ्यता वाले इन लोगों के प्रभाव से तमिलों की अपनी सभ्यता और संस्कृति का क्षरण होने लगा। तमिलनाडु आर्यमय हो गया है- ऐसे विचार इतिहास-विरुद्ध बातें हैं, विचार हैं। हां, इस बात से हम इनकार नहीं कर सकते कि आर्यभाषा, तमिलनाडु में प्रवेशकर प्रचलित होने लगी। आर्यभाषा की ध्वनियों अक्षर, शब्द आदि तमिल भाषा में मिलने लगे। फिर भी तमिल लोग उन परिवर्तनों के लिए अपनी भाषा में एक विशिष्ट स्थान देकर उन ध्वनियों, अक्षरों एवं शब्दों का प्रयोग करते थे। लगभग ईस्वी पूर्व तीसरी शताब्दी पूर्व रचित लक्षण ग्रंथ तोलकाप्पियम के रचनाकार ने तमिल भाषा में उनके विशिष्ट प्रयोग के निमित्त व्याकरणिक विधि-विधान और नियम बनाया था। (तोलकाप्पियम शब्द-ध्वनिप्रकरण) आर्यभाषा का संयुक्ताक्षर, उसके अक्षर, ध्वनियाँ, शब्द आदि की व्याकरणिक रुढियां तमिल भाषा में स्थान नहीं पा सकीं। उन नयी ध्वनियों और अक्षरों, उनके उच्चारण आदि के निमित्त परवर्ती युग में 'ग्रंथम लिपि' का आविष्कार हुआ। ये सब उच्चवर्ग के बुद्धिजीवियों तक ही सीमित रहा। जनसामान्य इन प्रभावों से अछूता और अलग रहा।

आर्यों के देवता तमिल प्रदेश में छोटे-छोटे देवता के रूप में माने जाते थे। सिन्धु घाटी सभ्यता के लोगों के पशुपति की तथा पुराकालीन तमिल लोगों की 'मायोन' तथा 'चेयोन' की उपासना पद्धति आगे प्रचलित रही। लेकिन आर्यों के तमिल प्रदेश में प्रवेशकर जाने के उपरान्त उनके दैवी सिद्धान्त तथा धार्मिक विश्वास आदि का पालन तमिल लोग भी करने लगे थे। इस प्रकार दोनों जनजातियों के बीच अद्भुत सम्मिश्रण और सामंजस्य होने लगा। यह इस बात का संकेत करता है कि दोनों जातियों में अनुकूलता की भावना विद्यमान रही। दोनों के बीच कहीं भी वैमनस्यता या विरोध की भावना नहीं पायी गयी।

प्राचीन तमिल प्रदेश में जाति के आधार पर समाज बंटा हुआ नहीं था। अर्थात जाति-प्रथा उन दिनों यहाँ बिल्कुल प्रचलित नहीं थी। प्राचीन तमिल तिणै विभाजन अर्थात् भूखण्ड के आधार पर कुनबों में बँटकर रहते थे।

'मुल्लै' भू भाग का अहीर तथा 'कुरिजिं' भूखण्ड का कुंखन दोनों ही मरुतम् भूभाग की वेलाल (कृषक) जाति की लड़की से शादी-ब्याह का संबन्ध नहीं बना सकते थे। इस प्रकार मरुतम् भूखण्ड का कृषक युवा 'नेय्दल' भूभाग की 'मखर' लड़की से विवाह नहीं कर सकता था, इसे निन्दनीय माना गया। कृषक वर्ग के लोग उस युग में समाज में उच्च स्तर के लोग माने जाते थे। राजा भी उनसे वैवाहिक संबन्ध बनाता था। तमिल कवि तिरुवल्लुवर को इस कारण उचित सामाजिक जीवन के अनुकूल सामाजिक विधि-विधान एवं आचार संहिता बनाने की जरूरत पड़ी। वास्तव में तमिल-वेद के नाम से प्रख्यात 'तिरुक्कुरळा' आचार-संहिता का शास्त्रग्रंथ है और वह वास्तव में जीवन दर्शन का काव्यग्रंथ भी है। काल की दृष्टि से तिरुवल्लुवर के परवर्तीकालीन कवि तिरुमूळर ने भी यह घोषित किया कि एक ही कुल (अर्थात मानव कुल) और एक ही देवता (ओन्रे कुळम ओरुवने देवन्) इस सिद्धान्त का पालन और प्रतिपादन करते हुए तिरुमन्तिरम् (कविता सं. 2104) में उन्होंने अपने समय के समाज के लोगों का मार्गदर्शन करने का प्रयास किया। परन्तु चातुर्वर्ण का सामाजिक विभाजन आर्यों द्वारा यहाँ लाई गयी नयी सामाजिक व्यवस्था थी जिससे धीरे-धीरे तमिल समाज अनेक जातियों में बंट गया। जाति-प्रथा यहाँ जोर पकड़ने लगी। यह चार वर्णो वाला सामाजिक विभाजन तमिल समाज के लिए बिलकुल नया था। कालान्तर में तमिल समाज जातियों में बंटकर बिखर गया। जन्म से ही ऊँच-नीच की भावना जनमानस में घर करने लगी। इस कारण परवर्ती काल में तमिल समाज के संतों को जाति-भेद का विरोध करने की आवश्यकता पड़ी। शैवसंत माणिक्कवाचकर ने जाति-पांति की भेद वृत्ति की निन्दा। (तिरुवाचकम् 31:5)। गत शताब्दी के अंत में जीवित रहे संत रामलिंग स्वामी वल्ललार ने भी तमिल समाज को जातियों में बाँटकर देखने की कुदृष्टि की बड़ी निन्दा की (वल्ललार रचित तिरुअरुट्पा-295-296)।

तमिलों की सामाजिक परंपरा के साथ घुल-मिलकर रहे आर्यों के विचार, चित्तवृत्ति, सभ्यता, संस्कृति, परंपरायें आदि के फलस्वरूप तमिल समाज ने करवट ली। वर्ण

व्यवस्था यहाँ जोर पकड़ने लगी। इसी भाँति तमिलों के प्राचीन विचारों, परंपराओं और संस्कारों को आर्यो ने भी स्वीकार किया। तमिल जनता द्वारा उपास्य देवता, धार्मिक परंपराओं, पौराणिक कथाओं को आर्यों ने स्वीकारा। इस सामाजिक, सांस्कृतिक सम्मिश्रण समन्वय की ओर तमिल समाज आगे बढ़ता गया। यहाँ हमारे मन में एक प्रश्न उठता है। अपनी आजीविका की खोज में तमिल प्रदेश या दक्षिण भारत की ओर आये आर्य यहाँ रहकर अपनी सभ्यता और संस्कृति का विस्तार करने में लगे थे। एक बात का ध्यान रखना होगा कि तमिलों के साथ वे कभी भी संघर्ष, या युद्ध की स्थिति में नहीं रहे। ऐसी मानसिकता भी उनमें नहीं पायी गयी। ऐसा कहीं भी इतिहास में उल्लेख भी प्राप्त नहीं होता। अतः युद्ध कर देश को हथियाने का कोई विचार या अवसर भी उनके सामने नहीं आया। आर्यों का तमिल प्रदेश में प्रवेश एक लंबे काल तक होता रहा। पहले ही कहा जा चुका है कि वे तमिलों के बीच घुल-मिलकर रहते हुए जीवन-शैली और परंपराओं में अनेक परिवर्तनों से होकर गुजरे।

"आर्यों और द्रविड़ों के बीच अनेक संघर्ष हुए और अंत में आर्य ही विजयी हुए और तमिलों की हार हुई और रामायण महाकाव्य इस संघर्ष का ही चित्रण करता है" जैसे भ्रमपूर्ण विचार का प्रचार करने वाला तमिल समाज का एक वर्ग अब भी तमिल प्रदेश में है। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि पौराणिक कथाएं कपोलकल्पित दंतकथायें ही होती हैं, उनका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। अतः उसके आधार पर एक बहुत बड़ी ऐतिहासिक घटना के रूप में उसका उल्लेख करना न केवल अनैतिहासिक है बल्कि अनुचित भी है। इस प्रकार समाज को भ्रमित करना सही नहीं है। इस कारण उनके विचार हमारे लिए स्वीकार करने योग्य भी नहीं है। रामायण की भांति तमिल में रचित पुराणग्रंथों की घटनाओं का आधार (संदर्भ-कन्द पुराणम्) आर्य-द्रविड़ संघर्ष का परिणाम है यह कहना भी स्वीकार करने योग्य बात नहीं है। तमिल कन्दपुराणम् का पात्र अगस्त्य ऋग्वेद एवं अन्य अनेक कथाओं में तथा तमिल साहित्य में भी दिखाई देते हैं। तमिलों द्वारा रचित परवर्ती सिद्ध योगियों के साहित्य के वे ही रचयिता माने जाते हैं, अतः अगस्त्य को आर्य कहना, आर्य भाषा और द्रविड भाषा के बीच संबन्ध जोड़ने वाला तथा विन्ध्याचल पर्वत से होकर तमिल प्रदेश में द्रविड़ भाषा के बीच संबन्ध जोड़ने वाला और विन्ध्याचल से होकर तमिल प्रदेश में आर्यभाषा को परिचित कराने वाला या तमिल प्रदेश में तमिल सिखाने आये महर्षि के रूप में, मानने की जितनी भी बातें हैं केवल कपोलकल्पित मनगढन्त कल्पनायें मात्र हैं। कोई पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध न होने के करण वे घटनायें अनैतिहासिक ही मानी जाएंगी। फिर भी अगस्त्य की तमिल परम्परा के बारे में शोध चलता रहता है। अगस्त्य मुनि को कैलाशपर्वत या दक्षिण भारत के पोदिय पर्वत पर ठहरने वाले संत मुनि के रूप में तमिल कन्दपुराणम् बताता है। भागवत पुराण एवं मत्स्य पुराण भी अगस्त्य का उल्लेख मलयपर्वत निवासी के रूप में करते हैं। शिव पुराणों में भी वे शिकारी के रूप में दर्शन देते हैं। वायु पुराण कहता है कि अगस्त्य राक्षस के वंशज हैं तथा पुलस्त्य के पुत्र अगस्त्य रावण के पूर्वज रहे हैं।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि ये सभी अगस्त्य किसी न किसी पर्वत से सबन्धित हैं। ऐसा मालूम होता है कि अगस्त्यों तथा तमिलों के बीच गहरा संबंध रहा है। अतः अगस्त्य मूलरूप में तमिल रहे हैं और पौराणिक कथा के माध्यम से वे आर्य बने हैं। ऐसा अनुमान करने की गुंजाइश है। 'तोलकाप्पियम्' की रचना के पूर्व 'अगत्तियम' नामक एक व्याकरण ग्रन्थ तमिलनाडु में प्रचलित रहा, ऐसी एक परंपरा यहाँ रही है। एल.टी. बारनेट नामक लेखक ने इसके बारे में अपने विचार व्यक्त किये हैं, जो इस प्रकार-

आर्यों के तमिल प्रदेश में आगमन के उपरान्त अपनी आर्य सभ्यता और संस्कृति को यहाँ विकसित करने के निमित्त तमिल संस्कृति की विशेषताओं को कम करने के उद्देश्य से उनके द्वारा अपनाए गये प्रयासों के फलस्वरूप उठी यह कल्पना ही है। ऐसा मानना पड़ता है कि अगस्त्य के बारे में लिखी गयी पौराणिक कथायें एवं परशुराम के संबन्ध में लिखी गयी पौराणिक कथाओं का उद्देश्य भी इसी के आधार पर रहा है।

तमिलों का धर्म, सामाजिक जीवन, भाषा, साहित्य, आदतें इन सभी क्षेत्रों में आर्य लोग दखल देकर उन्हें अपने अनुकूल बदलने के लिए प्रयत्नशील रहे। व्यक्तियों

के नाम, देवताओं के नाम, स्थान, नदी, पर्वत आदि के मूल तमिल नाम उसके सब आज तमिल प्रदेश में अपना मूल तमिल नाम खो चुके हैं। उनकी जगह आर्यों के अनुकूल उनके दिये हुए संस्कृत नाम ही प्रचलित हो गये। उदाहरण के लिए मुदुकुन्रम् मूल तमिल नाम आज वृद्धाचलम् में परिवर्तित हो गया। तिरुमरैक्काडु तमिलनाम अब वेदारणयम् के नाम से ही पहचाना जाता है। नान्माड़क्कूडल अब मदुराई कहलाता है। तिरुवरंगम् अब श्रीरंगम् में परिवर्तित हो गया। देवमूर्ति कण्कोडुत्त वन्नितम् अब नयनवरदेश्वर के नाम से ही जाना जाता है। 'अंगयर्क्कण्णि' सुन्दर तमिलनाम अब देवी मीनाक्षी कहा जाता है। इस प्रकार आर्यों ने अपनी आदतों, रीतिरिवाजों, परंपराओं को तथा अपनी भाषा संस्कृति को जितना ऊँचा उठाने का प्रयास किया उसमें ये सारी बातें उनकी सफलता के लिए सहायक रहीं। सारे भारत को आर्यमय बनाना, संस्कृत को ऊँचा उठाना तथा ब्राह्मणत्व को फैलाना उनका मुख्य उद्देश्य रहा और उसमें वे सफल भी हुए। जहाँ तक तमिल प्रदेश की बात है हम तमिल भाषा एवं तमिल संस्कृति पर अतिक्रमण ही मानते हैं। आर्यों के आगमन के पूर्व ही यहाँ एक विकसित सभ्यता और संस्कृति विद्यमान थी इसे समझना होगा।

संस्कृत का व्याकरण रचने वाले पाणिनी (ई.पू. 600) उत्तर भारत के भूगोल की जानकारी तो रखते थे, पर वे नर्मदा नदी के दक्षिण में केवल कलिंग मात्र का उल्लेख करते हैं। द्रविड़ प्रदेश या दक्षिण भारत का उल्लेख नहीं। उनके परवर्ती वैयाकरण कात्यायन (ई.पू.चौथी शताब्दी) अपने व्याकरण ग्रंथ में समस्त दक्षिण भारत का उल्लेख भी करते हैं। इसके आधार पर यह मानना पड़ता है कि उत्तर भारत के आर्य ई.पू. 600 के पश्चात ही दक्षिण भारत के द्रविड़ प्रदेश में आकर निवास करने लगे।

आदिकाल में मवेशियों को चराते हुए जीवन-यापन करते हुए तथा अस्थिर जीवन बिताने वाले आर्य लोग बाद में गंगानदी के तटवर्ती प्रदेशों में आकर बस गये। वहाँ उन्होंने धीरे-धीरे बड़े-बड़े राज्यों की स्थापना की। वे अच्छा एवं सुखमय जीवन व्यतीत करते थे। अपनी एक अलग सभ्यता एवं संस्कृति को विकसित करने में वे तत्पर थे। अपनी भाषा को उन्होंने समृद्ध किया। इस सबके बावजूद उन्हें अपना निवास-स्थान छोड़कर सदूर दक्षिण प्रदेश तक आने के लिए क्या जरूरत पड़ी होगी? दूसरे प्रदेश में जाकर बसने के लिए मजबूर करने जितनी उनकी जनसंख्या में भी वृद्धि नहीं हुई तथा उनके सामने कोई जीवन की विकट समस्या या संकट भी नहीं आया था? मनुधर्म कहता है कि आर्यावर्त का दक्षिणी छोर विन्ध्याचल (दण्डकारण्य) है। इसलिये दूसरे प्रदेशों पर आक्रमण कर उन्हें हथियाने का विचार भी आर्यों के मन में नहीं आया होगा। आर्य लोग लड़ाकू प्रवृत्ति के तथा राज्य विस्तार की मानसिकता के भी नहीं थे। बहुत सोच-विचार करने पर एक ही विचार से तथा एक ही उद्देश्य से प्रेरित होकर वे दक्षिण की ओर यात्रा करने लगे होंगे कि अपनी सभ्यता, संस्कृति, विचार आदि को दूसरे प्रदेशों तक फैलाने का एक मात्र उद्देश्य उनके मन में रहा होगा। ऐसा सोचने की गुंजाइश भी है कि वे जहाँ-जहाँ गये वहां उन्हें रहने को ठौर, खाने-पीने की सुविधायें तथा शासनाधिकार देने के लिए तमिल प्रदेश के राजा लोग तैयार थे। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उस समय अनेकानेक अवसर भी उनकी प्रतीक्षा करते थे।

उत्तर भारत से पदयात्रा करते हुए दक्षिणा पथ में प्रवेश करने वाले श्रमणसंत एवं बौद्ध सन्यासियों के पूर्व ही आर्यों की बस्तियाँ यहाँ काफी संख्या में रही होंगी। ये संन्यासी और संतमुनि लोग अलग-अलग एवं झुण्ड बनाकर भी तमिल प्रदेश में पहुंचकर शुरू में तपस्या में लीन रहकर, बाद में अपने अपने धार्मिक सिद्धांतों को जनता के मध्य प्रसारित करने के कार्य में प्रवृत्त रहे। तमिलनाडु के दक्षिणी छोर पर स्थित कुछ पहाड़ियों की गुफाओं में ई. पूर्व तीसरी और दूसरी शताब्दी के ब्राह्मी लिपि में लिखे उनके अनेक शिलालेख प्राप्त हुए हैं। तमिल प्रदेश में उनकी गुफायें बौद्ध विहारों के रूप में रही होंगी। गुंटूर जिला के बट्टिप्रोलु नामक स्थान में प्राप्त शिलालेख से पता चलता है कि बौद्ध धर्म ई.पूर्व तीसरी शताब्दी में दक्षिण भारत में पहुँच चुका था। अशोक के शासन काल में कांचीपुरम में बौद्ध धर्म प्रचालित था और उसकी बड़ी मान्यता थी।

तमिल प्रदेश में पहुंचे आर्य कालांतर में परिस्थितिवश तमिलों के साथ वैवाहिक संबन्ध सूत्र बनाकर खुद तमिल ही बन चुके थे। तमिल प्रदेश की प्राचीन परंपराओं, आदतों,

रीतिरिवाज तथा जीवन-शैली को अपनाकर तमिलों के बीच घुलमिल गये। इस कारण मूल तमिल निवासी कौन और आर्य लोग कौन, इस प्रकार का भेदभाव रहित एक नया समाज अपना रूप लेने लगा था। कालान्तर में तमिल प्रदेश में बसे आर्य लोग संस्कृत को भूल चुके थे और तमिल को अपनी मातृभाषा के रूप में स्वीकार कर चुके थे। धीरे धीरे समाज में व्याप्त वर्णाश्रम धर्म की वजह से ब्रह्मणों का वर्चस्व बढ़ता देखकर तमिल समाज में अन्य लोग भी अपने को भी आर्यजन कहकर अपना बडप्पन दिखाने लगे। आर्य शब्द मूलरूप श्रेष्ठ, गुणीजन, उत्तम स्वभाव के लोग, आचार्य तथा सम्माननीय बुद्धिजीवी आदि अर्थ में प्रयुक्त होता था, मूलतः यह कोई जातिसूचक शब्द नहीं था। (ई.पू. 500 से लेकर ईसवीं सन् 200 तक का कालखण्ड तमिल साहित्य में 'संगम-युग' माना जाता है। जिसमें रचित लगभग 2500 मुक्तक कविताओं में अनेक कवितायें जिन कवियों द्वारा रचित हैं, उनके नामों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे मूलरूप में आर्यजन थे जैसे रुद्रनार (तमिलनाम उरुतिरनार), उलोच्चनार (लोचन कवि), वाल्मीकियार (वाल्मीकि), दामोदरनार (दामोदर) आदि।

उपर्युक्त सामाजिक विवरणों से स्पष्ट है कि तमिलनाडु में एक नया समाज मध्ययुग तक आते-आते अपना रूप लेने लगा था। मध्ययुग में घटिकायें, पाठशालायें ही अधिक संख्या में पायी गयीं जहाँ केवल संस्कृत की शिक्षा दी जाती थी। सिर्फ शैव मठों तथा धर्मस्थलों में तमिल की शिक्षा दी जाती थी और वह भी धार्मिक शिक्षा मात्र इससे तमिल भाषा, तमिल साहित्य के विकास में बड़ा अवरोध उत्पन्न हुआ। तमिल एक प्रकार से दब गयी। भक्तियुग (ईस्वीं सन् दसवीं शताब्दी तक) में शैवभक्त नायनारों तथा वैष्णव भक्त द्वादेश आलवारों के काल में रचे गये स्तोत्रगीत तमिल भाषा में थे। प्रसिद्ध शैवाचार्य संत तिरुज्ञान संबन्धर अपने को तमिलज्ञान संबन्धन कहने में अपना बडप्पन मानते थे। इस भक्तियुग में तमिल भाषा को ऊँचा स्थान प्राप्त हुआ।

आधुनिक काल में अंग्रेजों के प्रभाव के कारण अंग्रेजी का वर्चस्व होने लगा और इस कारण तमिल सहित समस्त भारतीय भाषाओं की अवनति होने लगी। अब इस इक्कीसवीं शती में अपनी-अपनी भाषा के विकास के निमित्त पुनः संघर्ष करने की स्थिति है।

790, डॉ. रामास्वामी सलाई, के. के. नगर (प),
चेन्नै (तमिलनाडु)- 600078,

(गत वर्ष डॉ. एम. शेषनजी का देहावसान हो गया। आप वैचारिकी से बराबर जुड़े रहे, सादर स्मरण। -सम्पादक)

❑❑

वृद्धावस्था अनुभवों का खजाना है। वृद्ध इंसान पृथ्वी का सबसे बड़ा शिक्षालय है। वृद्धावस्था को मौत का प्रतीक्षालय बनाने की जगह उसे जीवन का अनूठा आयाम बनाएं। इस अवस्था को आध्यात्मिक उर्जा से परिपूर्ण बनाएं। अध्यात्म का मतलब है अपनी चेतना का परम चेतना में समर्पण। बुढ़ापे को बोझ न समझें, इसे ओजपूर्ण बनाएं। ऐसा करने से आपको जीवन में एक नये रस-रहस्य का अनुभव होगा।

हिन्दुस्तान में सभ्यताओं का संघर्ष और समन्वय (पूर्वमध्यकाल से आधुनिककाल)

प्रो. आर. नाथ

साधारणतया, चार प्रकार की सभ्यताएं विकसित हुई : (1) नदियों के तटीय मैदानों में (2) पर्वतीय प्रदेशों में (3) समुद्र तटों पर (4) रेगिस्तान में। (1) भारत में यमुना - गंगा और सिन्धु-पंचनद के मैदानों में वैदिक-पौराणिक सभ्यता का, मैसोपोटामिया में दजला-फरात (Tigris-Euphrates) के मैदानों में, बैबीलोनिया-असीरिया की सभ्यताओं का; और नील (Nile) नदी के मैदान में मिस्र की फराओ सभ्यता का विकास हुआ। नदियों के मैदानों में खेती और व्यापार की सुविधाएं होती थीं, जीवन यापन के समुचित साधन उपलब्ध थे, जीवन खुशहाल, सरल, बहुआयामी और व्यवस्थित होता था। धर्म, दर्शन, समाज, राजनीति, शिल्प और ललित कलाओं का विकास होता था (सभ्यता से संस्कृति वैसे ही विकसित होती है जैसे दूध से मलाई)।

(2) पर्वतीय एवं जंगली प्रदेशों में जीवन अपेक्षाकृत कठिन था, लोग कहीं कहीं, थोड़ी बहुत खेती कर लेते थे, अन्यथा जंगली और पर्वतीय उत्पादों पर निर्भर रहना पड़ता था, लोग स्वभाव से कर्मठ, सहनशील, सीधे और सन्तोषी होते थे, मिल-जुलकर सहयोग से रहते थे, सामाजिक व्यवस्था गठी हुई थी, वाह्य सम्पर्क बहुत कम होता था।

(3) समुद्र के किनारे जो सभ्यताएं विकसित हुईं उनमें लोग अधिकांशतः समुद्र पर आश्रित थे, समुद्र ही उनके जीवन-यापन का साधन था, मछली पकड़ते थे, नये-नये प्रयोग करते थे, समुद्र से जूझते थे, नावों में बैठकर नये-नये प्रदेश ढूंढ़ते थे, स्वभाव से बड़े साहसी, धैर्यशाली, उद्यमी और निर्भीक होते थे।

(4) रेगिस्तान में रहन-सहन सबसे कठिन था। दिन-रात प्रकृति से जूझना पड़ता था। न खेती थी, न व्यापार। डकैती और लूटमार से जीवन कटता था। न परिवार होता था न समाज, बस कबीला (Tribe) होता था और कबीले का सरदार (शेख) हर सदस्य का मालिक होता था। उसका हर हुक्म मानना पड़ता था। काफिलों को तो लूटते ही थे, एक कबीला दूसरे कबीले को भी लूट लेता था। ऊँट और खजूर जीने के दो ही साधन थे। स्त्रियों की दशा ऊँट जैसी थी, ऊँट की तरह उन्हें भी खरीदा-बेचा जा सकता था!

बद्दू अरब सभ्यता

(Nomadic Arab Civilization)

अरब प्रायद्वीप प्रायः रेगिस्तान था। वहाँ कई कई साल वर्षा नहीं होती थी, सूखा पड़ता था, नदियाँ नहीं थीं, कहीं कहीं जल के स्रोत निकल आते थे जहाँ थोड़ी बहुत घास हो जाती थी। रेगिस्तान में इन्हें नखलिस्तान (Oasis) कहते थे जहाँ बद्दू (Nomad घुमन्तु) अरब कबीले अपने जानवर चराने के लिए आ जाते थे। यहाँ कहीं कहीं खजूर (Date) हो जाता था। चरागाहों

की तलाश में अरब कबीले निरन्तर घूमते रहते थे, कभी कहीं, कभी कहीं। जीवन बड़ा कठिन था। दिन में तेज गर्मी, धूलभरी आँधियाँ, पेड़ों का सर्वथा अभाव और छाया का नामोनिशान नहीं, और रात में कड़ाके की ठण्ड, अरब दिनरात प्रकृति से जूझता था। खेती नहीं के बराबर, कुछ व्यापार, डकैती और लूटमार ही मुख्य धन्धा था। वैसा ही उनका कठोर स्वभाव बन गया था, वैसी ही हिंसक प्रवृत्ति, वैसी ही उसकी सभ्यता।

इब्ने-खलदून ने अरब जाति (जन-समुदाय, Race) का सर्वाधिक प्रामाणिक, विद्वत्तापूर्ण और निष्पक्ष इतिहास लिखा है।1 वह स्पष्ट लिखता है : वास्तव में अरब एक वहशी[2] कौम है, जिसमें वहशियों के स्वभाव इस प्रकार आरूढ़ हो जाते हैं कि उनकी स्वाभाविक आदत समझे जाने लगते हैं। उनकी यह प्रवृत्ति सभ्यता (civilization) तथा संस्कृति (Calture) की कट्टर विरोधी (Anti Thesis) है। वे इधर उधर चलने फिरने एवं लूटमार के आदी होते हैं और यह आदत उन्हें शान्ति से नहीं बैठने देती और वे किसी स्थान को स्थायी रूप से बसाने में असमर्थ होते हैं। लोगों के धन का अपहरण उनके लिए स्वाभाविक है। उन्हें अपनी जीविका बरछों की छाया में प्राप्त होती हैं। संक्षेप में, जिस राज्य पर उन्होंने शासन किया तो उसकी सभ्यता की हानि हुई, देश वीरान हुआ और भूमि की दशा कुछ से कुछ हो गयी। उदाहरणार्थ, जब वे यमन पहुँचे तो यमन विनाश के घाट उतर गया। केवल थोड़े से नगरों को छोड़कर ईराक की भी यही दशा हुई, कारण कि पारसियों के राज्य - काल में वह बड़ा ही हरा-भरा था और अब उजड़ चुका है। इधर शाम (सीरिया) भी वीरान है।[3]

उमय्या-काल (661-750 ई.) का एक कवि अबू तम्माम अपने ग्रन्थ 'अशआर-अल-हमासह' में कहता है: हमारा तो काम ही अपने शत्रुओं पर, अपने पड़ौसियों पर तथा अपने भाईयों पर, जब भाई के अतिरिक्त कोई अन्य छापा मारने के लिए न मिले तो, आक्रमण करना है।[4]

कबीलों से 'उम्मत' तक

पैगम्बर हजरत मुहम्मद साहब का जन्म 20 अप्रैल 571 ई. को हिजाज प्रदेश में मक्का में कुरैश कबीले में हुआ जो अरबों के प्राचीन तीर्थस्थल 'काबा' के सेवायत थे। उन्होंने धर्म, समाज, राजनीति-अरब जीवन के हर पक्ष पर नियम बनाये, अरब-जीवन को नियमित और व्यवस्थित (Codify) किया और इस्लाम के माध्यम से बद्दू अरबों को सभ्य बनाने का यथा-सम्भव प्रयत्न किया। वास्तव में इन 'वहशी' (असभ्य, जंगली) अरबों को सभ्य बनाने के लिए ही इस्लाम का प्रादुर्भाव हुआ था और मूल रूप से, इस्लाम सामाजिक-धार्मिक सुधारात्मक आन्दोलन था। जो कुछ भी 7वीं शताब्दी ईसवी में, अरब के इन कबीलों में, उन परिस्थितियों में, सम्भव हो सकता था, मुहम्मद साहब ने किया।

किन्तु इन अरबों का जो जातिगत सहज-स्वभाव (Racial Instinct) था- युद्ध, लूटमार, खूनखराबा, उद्दण्डता वह नहीं बदला। उल्टे इस्लाम ने उन्हें संगठित (Organize) कर दिया। अब तक बद्दू अरब कबीलों में बँटे हुए थे, इस्लाम ने उन सबको एक धागे में पिरो दिया और एक कौम (Nation) बना दिया। अरब कबीले इकट्ठे होकर 'उम्मत'[5] बन गये और इस्लाम का झण्डा उठाकर, इस्लाम का नारा लेकर टिड्डीदल की तरह, संसार - विजय (World Conquest) के लिए निकल पड़े। अब 'उम्मत' ही उनका परिवार था, 'उम्मत' ही समाज था और 'उम्मत' ही राष्ट्र था!

पैगम्बर हजरत मुहम्मद साहब की मृत्यु (8 जून 632 ई.) के पश्चात अरब टिड्डी- दल की तरह पश्चिम और पूर्व के प्रदेशों पर टूट पड़े। पश्चिम में अफ्रीका महाद्वीप, भूमध्यसागर के किनारे-किनारे के देशों जैसे मिस्र, लीबिया, ट्यूनीशिया, अलजीरिया और मोरक्को को रौंदते हुए अटलाण्टिक महासागर तक पहुँच गये और वहाँ से 710 ई. में, स्पेन में भी कूद पड़े। वहाँ से वे आँधी-तूफान की तरह बढ़ते गये और फ्रान्स में घुसकर दक्षिणी यूरोप में फैलने लगे। किन्तु फ्रैन्क और अन्य जुझारू जातियों ने चार्ल्स मोर्टेल के नेतृत्व में फ्रान्स के नगर पाइतिये के पास तूर के युद्ध में 732 ई. में अरबों को बुरी तरह पराजित किया और पीछे धकेल दिया।

अरब पूर्व की ओर भी बढ़े और एशिया महाद्वीप के देशों सीरिया, ईराक, ईरान और अफगानिस्तान को जीतते हुए मध्य एशिया तक पहुँच गये। 705 ई. तक अरबों ने बल्ख, बुखारा और समरकन्द के प्रदेश (जो बौद्ध धर्म के

केन्द्र थे) जीत लिये। 740 ई. तक चीन तक पहुँच गये। हजरत मुहम्मद साहब की (632 ई. में) मृत्यु के पश्चात, लगभग 100 वर्ष के भीतर ही, अरब इस्लाम का झण्डा लेकर कर्क रेखा (Tropic of Cencer) के ऊपर-ऊपर, पश्चिम में अटलाण्टिक महासागर तक, और पूर्व में प्रशान्त महासागर तक फैल गये।

आबादी के विस्फोट के कारण फारसी, यूनानी, शक, कुषाण, हूण, गौथ, मंगोल आदि जातियों ने अन्य सभ्यताओं पर आक्रमण किये, किन्तु जिस जोश, साहस, क्रूरता, नृशंसता, बर्बरता, विध्वंस और व्यापकता से इस्लाम के ध्वज तले अरबों के आक्रमण हुए, उसका कोई अन्य उदाहरण इतिहास में नहीं है। उन्होंने जो प्रदेश भी जीते, वहाँ की प्राचीन सभ्यताओं और संस्कृतियों को समूल नष्ट कर दिया, उनको मनुष्यों का कत्लेआम करने एवं बस्तियां जलाने उजाड़ने में बहुत मजा आता था।

इस्लाम के मूल ग्रन्थ 'कुरान' में जिसे ईश्वरीय आदेश (कलामुल्लाह, The word of God) कहते हैं, यह बात स्पष्ट रूप से, और बार-बार कही गयी हैं कि कुरान केवल अरबों के लिये प्रकट (नाजिल) हुई थी जिनकी मातृ-भाषा अरबी थी। उदाहरणार्थः (सूरा-आयत)[6] : – xii 2 (अ.यू.550), xiii 37 (अ.यू. 615-616), xiv 4 (अ.यू. 620), xvi 103 (अ.यू. 684), xx 113 (अ.यू. 814), xxvi 192-195, (अ.यू. 969-97), xxxix 28, (अ.यू.1245-246) और xLI) 3 (अ.यू. 1287)। हदीसों (रवायतों) में भी इस सिद्धान्त की पुष्टि हुई। एक हदीस के अनुसार मुहम्मद साहब ने कहा- अरबों से प्रेम करो, इसके तीन कारण हैं : (1) मैं पैगम्बर अरब हूँ, (2) कुरान अरबी में है (और अरबों के लिये है) और (3) जन्नत के निवासी केवल अरबी बोलेंगे। (मिश्कात-अल-मसाबिह, 26-28)। अर्थात, इस्लाम का प्रादुर्भाव केवल अरबों के लिये हुआ है और यह विशुद्ध अरब-धर्म है!

अरबों ने अन-अरबी (Non Arabic) प्रदेशों को (जो अरब नहीं थे) जीता और वहाँ के निवासियों को मुसलमान बना लिया। उनसे इस्लाम मनवाया गया, और इस्लाम के माध्यम से, और इस्लाम के साथ, अरबी सभ्यता उन पर बलपूर्वक थोपी गयी अर्थात अरबी भाषा, अरबी जीवन-शैली, अरबी रहन-सहन, अरबी खान-पान, अरबी पैगम्बर, अरबी कुरान, अरबी 'हज', अरबी धर्म-कथाएं (Mythology) आदि आदि। वास्तव में यह जीते हुए प्रदेशों और जातियों का अरबीकरण (Arabianisation) था जो अखिल अरबवाद का ही एक अंग था। उन्होंने इस्लाम के माध्यम से अरब-वाद अर्थात अरब सभ्यता ऐसी पूर्णता से फैला दी कि नये मुसलमान बने लोग अपनी तीसरी पीढ़ी तक अपना अतीत, अपना इतिहास भूल गये अथवा जबरन भुला दिया गया और वे अरबों का इतिहास ही अपना समझने लगे, अब यही उनका व्यक्तित्व, यही अपनापन और यही पहचान बन गयी।

हिन्दूशाही, 'कोह-ए-जूद' और महमूद गजनवी
(843-1014; 997-1030 AD)

अरबों ने 643 ई. में बलोचिस्तान के समुद्री प्रदेश मकरान पर अधिकार कर लिया और इसी रास्ते होता हुआ अरब सेनापति मुहम्मद बिन कासिम 711-12 ई. में सिन्ध पहुँच गया। सिन्ध के कुछ प्रदेश जीतकर वह 713 ई. में मुल्तान की ओर भी बढ़ा। किन्तु गुर्जरों ने उनसे सिन्ध से आगे नहीं बढ़ने दिया। उज्जैन के महायज्ञ में गुर्जरों को भारत के द्वार की रक्षा करने के उपलक्ष्य में 'प्रतिहार' की उपाधि से सम्मानित किया गया।

अरबों का भारत में घुसने का दूसरा रास्ता काबुल, खैबर, पेशावर, लाहौर होकर था। इस भूभाग पर 7वीं शताब्दी में तुर्क-शाहियों का राज्य था जो बौद्ध थे। काबुल उनकी राजधानी थी और पूर्व में पंजाब के 'कोह-ए-जूद' (Salt Range) तक उनका राज्य फैला हुआ था। उन्होंने काबुल में 666 ई. से 843 ई. तक राज्य किया। जब अरब आक्रमणकारी, अफगानिस्तान से, इस रास्ते से आगे बढ़ने का प्रयत्न कर रहे थे तो तुर्कशाहियों ने उन्हें दृढ़तापूर्वक रोक दिया और आगे नहीं बढ़ने दिया। वास्तव में वे भारत के द्वार पर प्रतिहार की तरह डटे रहे और उन्होंने अरबों को पंजाब में घुसने नहीं दिया।

तुर्कशाहियों के पश्चात 843 ई. में वहाँ हिन्दूशाहियों का राज्य आरम्भ हुआ। उनकी राजधानी गर्मी में काबुल और सर्दी में 'उदभण्डपुर' ('वायेहिन्द', 'ओहिन्द', वर्तमान 'हुण्ड') थी जो काबुल नदी के सिन्धु नदी से संगम पर स्थित अटक से 80 कि.मी. दूर है। हिन्दूशाहियों का बड़ा

शक्ति-सम्पन्न साम्राज्य था। हिन्दूकुश पर्वत से दक्षिण तक का (सीस्तान और जाबुलिस्तान को छोड़कर) लगभग पूरा अफगानिस्तान, गान्धार और सिन्धसागर दोआब इसमें सम्मिलित थे।'[7] इसी में 'कोह-ए-जूद' (Salt Range) प्रदेश था अर्थात सिन्धु और झेलम नदियों के बीच का (डेरा इस्माइल खाँ के ऊपर का) उर्वर प्रदेश। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण भौगोलिक भूभाग था। इसमें अफगानिस्तान, गान्धार और काश्मीर के भी भाग थे। इसी मार्ग से सिकन्दर (Alexander) ने 327 ईसा पूर्व में भारत पर आक्रमण किया था और इसी मार्ग से शक और हूण आये थे। इसी मार्ग से महमूद गजनवी (999-1025) आया था। वास्तव में मध्यकाल में सभी विदेशी आक्रमणकारी इसी मार्ग से आते थे, झेलम तक पहुँचते थे और पंजाब के उर्वर खुले मैदान में उतर जाते थे। इस प्रदेश को ही 'कोह-ए-जूद' (Salt Range) कहते थे और इसी नाम से सल्तनतकालीन इतिहासकारों ने इसका उल्लेख किया है।

अरबी इस्लाम ने सारा अफगानिस्तान और मध्य एशिया जीत लिया था जहाँ विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न राज्यों का उदय हुआ। 10वीं शताब्दी ई. में गजनी का साम्राज्य खड़ा हो गया। अल्पतगीन जो बुखारा का एक सामन्त था और खुरासान का सूबेदार था, ने 962 ई. में स्वतन्त्र रूप से गजनी पर अधिकार कर लिया। धीरे धीरे उसने आसपास के प्रदेश जीत लिये और एक राज्य बना लिया। उसकी मृत्यु के पश्चात उसका एक सेनापति सुबक्तगीन 977 ई. में गजनी का शासक बना। 997 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात उसका बेटा महमूद गजनी का सुलतान बन गया। यही वह महमूद था जिसने भारत पर अनेकानेक आक्रमण किये, मन्दिर तोड़े और अपार धन लूटकर ले गया। उसने 997 से 1030 ई. तक गजनी पर राज्य किया।

भीमदेव (921-964 ई.) और जयपाल (964-1002 ई.) काबुल के हिन्दूशाही वंश के दो सर्वाधिक प्रतापी राजा थे। उन पर उत्तर और दक्षिण दोनों ओर से निरन्तर दबाव बढ़ रहा था और जयपाल ने सुरक्षा के लिये 999 ई. में लाहौर पर अधिकार कर लिया था। गजनी से महमूद की आँधी उठ रही थी। दोनों में भयंकर संघर्ष हुआ। पेशावर के 1001 ई. के प्रथम युद्ध में जयपाल हार गया और महमूद ने हिन्दूशाही राजधानी हुण्ड पर अधिकार कर लिया। जयपाल इस हार को सहन नहीं कर सका और उसने आत्महत्या कर ली। उसके बेटे आनन्दपाल ने स्थिति की गम्भीरता को समझते हुए 'कोह-ए-जूद' में स्थित 'नन्दन' नामक नगर में अपनी राजधानी बनायी। उसने भी महमूद से अपने राज्य की रक्षा करने के लिये बड़ा भारी संघर्ष किया और निरन्तर जूझता रहा। बार बार युद्ध लड़े। 1008 ई. के पेशावर के द्वितीय युद्ध में भारत के अनेकानेक राजा भी उसकी सहायता के लिये दौड़े आये। यह कहना बिल्कुल गलत है कि राजपूत राजा आपस में ही लड़भिड़ रहे थे और देश की सीमाओं की रक्षा का उन्हें कोई संज्ञान नहीं था। अर्थात हमारे यहाँ राष्ट्रीय-भावना नहीं थी। यह गलतफहमी ईस्ट इण्डिया कम्पनी (1803-57) के काल के अँग्रेज इतिहासकारों ने फैलाई है। 1008 ई. के पेशावर के द्वितीय युद्ध में कन्नौज, कालिन्जर, ग्वालियर, उज्जैन, अजमेर और अन्य राज्यों की सेनाओं ने भाग लिया और पंजाब के जुझारू गक्खड़ों के साथ मिलकर पहले दिन महमूद की विशाल सेना को पीछे धकेल दिया। बड़ा घमासान युद्ध हुआ किन्तु महमूद और उसकी घुड़सवार सेना के सामने वे हार गये और महमूद का भारत में घुसने का रास्ता खुल गया। अन्त में 1014 ई. में आनन्दपाल का बेटा त्रिलोचनपाल भी परास्त हो गया और महमूद ने हिन्दूशाहियों की राजधानी 'नन्दन' और उनके प्रमुख नगर 'लाहौर' पर अधिकार कर लिया। हिन्दूशाहियों का, जो अब तक देश की सीमाओं की रक्षा कर रहे थे, अन्त हो गया।

हिन्दूशाहियों ने 'कोह-ए-जूद' में बड़े बड़े सुन्दर मन्दिर बनवाये थे जिन्हें महमूद ने ध्वस्त कर दिया। उनके अवशेष मिले हैं और इन खण्डहरों से पता चलता है कि हिन्दूशाहियों ने 'काफिर कोट' (दक्षिण और उत्तर), 'बिलिओट' (जिला डेरा इस्माइल खाँ), 'अम्ब' (जिला खशाब), 'मलोट', 'मढ़ी', 'कालर' (जिला अटक) और 'नन्दन' (जिला झेलम) में, नवीं शताब्दी के अन्त से लेकर दसवीं शताब्दी के अन्त तक, लगभग 20 मन्दिर बनवाये थे, जिनमें केवल एक ईंट का था, शेष सभी पत्थर के थे।[8]

पंजाब का रास्ता खुल गया था और लाहौर भी महमूद के अधिकार में था। उसने भारत में घुसकर

नगरकोट, थानेश्वर, मथुरा, अजमेर, ग्वालियर, कालिन्जर, कन्नौज आदि प्रमुख नगरों और तीर्थस्थलों पर, और अन्त में सोमनाथ पर (1025 ई.में) आक्रमण किये, वहाँ के प्राचीन मन्दिर तोड़े, वहाँ पीढ़ियों से संचित धन लूटा और वापिस गजनी लौट गया। लगभग प्रतिवर्ष वह आँधी की तरह आता था और तूफान की तरह लौट जाता था। किन्तु लाहौर के अतिरिक्त उसने कहीं भी अपना राज्य स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया। मन्दिर तो बहुत सारे तोड़े किन्तु उनकी भूमि पर कहीं भी मस्जिद नहीं बनाई। प्रदेश-प्रदेश और नगर-नगर जीते पर कहीं भी अपना प्रशासक (Administrator) या सूबेदार (Governor) नियुक्त नहीं किये। केवल 'कोह-ए-जूद' और लाहौर को गजनी के साम्राज्य में मिला लिया।

उसने लाहौर का नाम बदलकर 'महमूदपुर' रख दिया। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि वहाँ उसने अपने नाम का जो सिक्का (टंका) चलाया उस पर संस्कृत में यह लेख लिखवायाः अव्यक्तमेकं मुहम्मद अवतार नृपति महमूद अयं टंको महमूदपुरे घटे हतो जिनायन- संवत...।। यह इस्लाम के मूलमन्त्र (कलमा) : ला- इलाहा- इल्लिल्लाह मुहम्मदर्रसूल अल्लाह का संस्कृत रूपान्तर है और यह अभिलेख कि नृपति महमूद ने यह टंका लाहौर में संवत...... में चलाया था। यह उसकी विवशता थी या उदारता कि वह हिन्दुओं की शास्त्रीय भाषा संस्कृत में अपना सिक्का चला रहा था?

अजमेर के चौहान और तुर्क आक्रमण
(11th-12th AD)

उत्तर-पश्चिम की ओर से होने वाले आक्रमणों से देश की सीमाओं की रक्षा का दायित्व अब अजमेर के चौहानों का हो गया। 11वीं और 12वीं शताब्दियों में, लगभग 200 वर्ष, वे निरन्तर इन आक्रान्ताओं से देश की रक्षा करने के लिये जुझारू संघर्ष करते रहे। चौहान साम्राज्य की सीमाएं मूल रूप से पश्चिम में नागौर तक और उत्तर में हाँसी और सिरसुती तक थीं। दिल्ली के तोमरों को जीतने के पश्चात हाँसी, समाना और तबारहिन्द (भटिण्डा) के किले उनकी उत्तरी सीमान्त पर; नागौर, मण्डौर, जालौर और सिवाना उनकी पश्चिमी और दक्षिण-पश्चिमी सीमाओं पर; और दिल्ली उनकी उत्तरी-पूर्वी सीमा पर थी।

चौहान राजा सिंहराज ने 10वीं शताब्दी के मध्य में तुर्को[9] से बार-बार युद्ध लड़े और बार-बार उन्हें हराया। उसने एक युद्ध में तुर्कों के सेनापति हातिम को मार गिराया। एक बार एक तुर्की सेना सुलतान हाजीउद्दीन के सेनापतित्व में अजमेर के समीप जेठाना तक पहुँच गयी, सिंहराज ने उसे बुरी तरह पराजित कर दिया और भागने को विवश कर दिया। पेशावर के 1008 ई. के द्वितीय युद्ध में अजमेर की चौहान सेना ने भी भाग लिया था। सोमनाथ पर आक्रमण करने के उद्देश्य से महमूद सितम्बर 1024 ई. में एक बहुत बड़ी सेना लेकर गजनी से चला। अक्टूबर 1024 ई. में वह अजमेर पहुँचा। किन्तु वह अजमेर का किला (तारागढ़) नहीं जीत सका और आगे बढ़ गया। 1025 ई. में वह सोमनाथ पहुँच गया, कई दिन तक घनघोर युद्ध हुआ, अन्त में वह मन्दिर तक पहुँचने में सफल हो गया। मन्दिर तोड़ दिया गया और वहाँ से लूटी गयी अपार धन-सम्पति 1200 ऊंटों पर लाद कर वह लौटने लगा। तब उसे पता चला कि अजमेर का राजा, गुजरात का राजा और मालवा का राजा मिलकर एक विशाल सेना लेकर उसका रास्ता रोके खड़े हैं। उसकी चौहान प्रदेश में से होकर निकलने की हिम्मत नहीं हुई और विवश होकर उसे मारवाड़ और सिन्ध के ठेठ रेगिस्तान में से होकर भागना पड़ा। पानी और चारे की कमी के कारण उसकी सेना की बड़ी क्षति हुई, हजारों घोड़े और सिपाही मारे गये और महमूद ने फिर भारत भूमि पर पैर रखने का साहस नहीं किया।

चौहान तुर्कों से निरन्तर लोहा लेते रहे और उन्हें सतलज के पश्चिम में ही रोके रखा। 1075 ई. में दुर्लभराज - तृतीय ने शहाबुद्दीन के नेतृत्व में आई एक तुर्क सेना को हरा कर भगा दिया। अन्त में तुर्कों से लड़ते हुए ही वह वीर गति को प्राप्त हुए। इब्राहीम के सेनापतित्व में तुर्कों की एक सेना 1079 ई. में आगरा तक पहुँच गयी जहाँ चौहान जयपाल ने उसका सामना किया। किन्तु वह हार गया और आगरे के किले पर जो ईंटों का बना था, तुर्कों का अधिकार हो गया। मुसलमान बन जाने से तुर्कों का अरबीकरण हो चुका था, अतः तुर्क भी जहाँ अधिकार करते थे, अरबों की तरह और अरबों की पद्धति पर, मन्दिरों और सभ्यता-संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट कर डालते

थे और यहाँ भी प्राचीन मन्दिरों को ध्वस्त कर दिया गया।

चौहान राजा अजयराज (1105-1132 ई.) भी निरन्तर तुर्कों से जूझता रहा। उसके पश्चात अर्णोराज (1132-1151 ई.) ने एक विशाल तुर्क सेना को अजमेर के निकट हराया और लगभग नष्ट कर दिया। इस उपलक्ष्य में उसने 'आना-सागर' की पुश्तें और घाट बनवाये और इस प्राकृतिक झील को अपना नाम दिया। इस भयानक युद्ध के बाद काफी समय तक तुर्कों की इधर आने की हिम्मत नहीं हुई। किन्तु मंगोलों की आँधी उठ रही थी और तुर्को पर मध्य एशिया से बराबर दबाव बढ़ रहा था। परिणामतः वे भारत में पैर जमाने का प्रयत्न कर रहे थे। उनके हमले फिर शुरू हो गये। चौहान उन्हें पीछे धकेलते रहे और सतलज से आगे नहीं बढ़ने दिया।

1151 ई. में अर्णोराज का पुत्र वीसल (वीसलदेव) विग्रहराज चतुर्थ चौहान-गद्दी पर बैठा। उसने 1167 तक राज्य किया। वह चौहान-वंश का सबसे प्रतापी राजा था। उसने 1152 में हाँसी और दिल्ली जीत लिये और इसके साथ ही चौहान अब अखिल भारतीय, चक्रवर्ती और राष्ट्रीय राज्य (Paramount and National State) बन गया, और देश की उत्तरी-पश्चिमी सीमा की (जिधर से बाहरी आक्रमण हो रहे थे) रक्षा करने का उसका पूर्ण और निर्णायक दायित्व हो गया। विग्रहराज ने तुर्कों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया, जहाँ जहाँ तुर्कों ने अधिकार कर लिया था, उन्हें वहाँ से खदेड़ दिया और विन्ध्याचल और हिमालय के मध्य के सम्पूर्ण आर्यावर्त को उनसे मुक्त करा लिया, जैसा उसने अपने वि.स. 1220 (1163 ई.) के शिवालिक स्तम्भ शिलालेख[10] में उत्कीर्ण कराया : *आ विन्ध्यादाहिमाद्रेव्विरचितविजय-आर्यवर्तं/यथार्थ पुनरपि कृत्वान्म्लेच्छं विच्छेनामिर्द्देवः/शाकम्भरीन्द्रो जगतिविजयते वीसल क्षोणीपालः।।* (शाकम्भरी नरेश वीसलदेव की जय हो जिन्होंने विन्ध्य से हिमालय पर्वत के मध्य के प्रदेश को म्लेच्छविहीन कर दिया है और इस भूभाग को पुनः वास्तव में आर्यावर्त बना दिया है)।

वीसल के उत्तराधिकारी सोमेश्वर ने 1169 से 1177 ई. तक चौहान साम्राज्य की बागडोर सँभाली। अब तक अफगानिस्तान में गजनी के स्थान पर गोर राज्य का उदय हो गया था, और शहाबुद्दीन (या मुइज्जद्दीन) मुहम्मद गोरी (मुहम्मद बिन साम) उत्तरी-पश्चिमी सीमा से घुसकर भारत पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा था। अजमेर के चौहानों को परास्त किये बिना भारत पर आधिपत्य जमाना सम्भव नहीं था और इस उद्देश्य से वह 1178 ई. में मुल्तान-मारवाड़ होता हुआ आबू तक पहुँच गया जहाँ गुजरात के चालुक्यों ने उसे बुरी तरह हरा दिया और उसे जान बचाकर भागने के लिये विवश कर दिया। उसकी समझ में आ गया कि भारत-विजय का मार्ग पंजाब में होकर ही जाता है और इस ओर से जानेवाले आक्रमणकारी को केवल भटिण्डा, हाँसी या पानीपत में ही रोका जा सकता है। गोरी 1191 ई. में इस मार्ग से फिर घुस आया और थानेश्वर तक पहुँच गया। यहीं तराइन के प्रथम युद्ध में चौहानों और तोमरों (तँवरों) ने उसे पीट डाला और वह किसी तरह जान बचाकर भागा। किन्तु अगले वर्ष 1192 ई. में वह पूरी तैयारी और एक विशाल घुड़सवार सेना के साथ फिर आ धमका। तराइन के द्वितीय युद्ध में चौहान राजा पृथ्वीराज तृतीय, अनंगपाल तोमर और उनके अन्य सहायक राजा हार गये और युद्ध करते हुए मारे गये। इस तरह भारत में 1192 ई. में तुर्कों का राज्य, जिसे 'दिल्ली सल्तनत' कहते हैं, स्थापित हो गया।

दिल्ली सल्तनत

(1192-1526 ई.)

तुर्कों का अरबीकरण हो चुका था और अब उन्होंने भारत और भारतवासियों का भी अरबीकरण (Arabianization) करना आरम्भ कर दिया। यहाँ अरबी धर्म, अरबी भाषा और अरबी जीवन-शैली थोपी जाने लगी। दर्शन, धर्म, कला-कौशल और उत्कृष्ट संस्कृति से सम्पन्न जो सभ्यता यहाँ विद्यमान थी, उसका विध्वंस किया जाने लगा और सातवीं शताब्दी ई. की बद्दू अरबों की वह सभ्यता यहाँ मनवाई जाने लगी जिसे इब्ने-खलदून जैसे विद्वान इतिहासकार ने 'वहशी' (जंगली, Savage) कहा है। मन्दिर तोड़े जाने लगे, बलपूर्वक धर्मान्तरण किया जाने लगा और यहाँ की विधिक व्यवस्था (Rule of Law) के स्थान पर बर्बरता (Barbarism) की जाने लगी। देश की 95% प्रजा को काफिर कह कर नागरिकता से सम्बद्ध अधिकारों से वंचित कर दिया गया। सरकार का 'रैय्यत' (प्रजा, जनता) से कोई राजनीतिक सम्बन्ध

नहीं था, कोई सामाजिक सामंजस्य नहीं था; कोई समन्वय नहीं था, न भाषा का न संस्कृति का। सरकार का प्रजा के प्रति कोई दायित्व नहीं था, न जान-माल की रक्षा का, न ईमान - अस्मत की रक्षा का जो किसी भी राज्य का मूलभूत दायित्व होता हैं। हिन्दू प्रजा दिल्ली के सुल्तान को 'म्लेच्छ' कहती थी, और सुल्तान और उसकी सरकार अपनी प्रजा को 'काफिर'।

यह दिल्ली - सल्तनत स्वतन्त्र और प्रभुसत्ता- सम्पन्न राज्य नहीं था। व्यावहारिक रूप से स्वतन्त्र होते हुए भी, वैधानिक रूप से यह 'खिलाफत' का मात्र एक विजित प्रदेश और सूबा था। दिल्ली सुल्तान का पद इस 'खिलाफत' में मात्र 'अमीर-उल-मुमीनिन' (मुसलमानों का अमीर) था और यही उसे अपने सिक्कों पर अंकित कराना पड़ता था। उसे दिल्ली पर राज्य करने के लिये बगदाद के खलीफा से आज्ञापत्र लेना पड़ता था जिसके बिना वह वैधानिक रूप से प्रशासन का हकदार नहीं था। अर्थात वह अरब खिलाफत का एक भाग था और वह खलीफा के अधीन था, प्रभुसत्ता और स्वतन्त्रता प्राप्त राजा नहीं था, न दिल्ली सल्तनत एक स्वतन्त्र और प्रभुसत्ता युक्त राज्य था। सल्तनत काल में इन वंशों का शासन रहा-

(1) अलबरी या गुलाम वंश (1192 - 1290 ई.), (2) खिलजी (1291-1320), (3) तुगलक (1320-1411), (4) सैय्यद (1411-1451) और (5) लोदी वंश (1451-1526 ई.)। ये प्रजा से चार 'कर' वसूल करते रहे : (1) जजिया-विधर्मियों से, (2) जकात-सहधर्मियों से, (3) खराज अर्थात लगान और (4) खम्स अर्थात लूटमार के माल में सुल्तान का पाँचवाँ हिस्सा[11]। मतलब लूटमार जायज और विधिक थी, 'लूटमार' की आज्ञा थी और सुल्तान की सरकार भी उसमें से अपना हिस्सा लेती थी। यह अरबों की सभ्यता थी, और यह अरबों की स्वाभाविक 'लूटमार' की प्रकृति के अनुसार था। दिल्ली सल्तनत के काल में 'लूटमार' को जायज बना दिया गया था।

अन-अरबी (Non Arabin) देशों में अरबी पढ़े-लिखे लोग नहीं थे, वहाँ धीरे-धीरे अरबी पढ़ाने के लिये मदरसे स्थापित हुए और 'उम्मत' में एक नया प्रभावशाली वर्ग बन गया जिसे सामान्यतः 'मुल्ला-मौलवी' कहते हैं जो धार्मिक ग्रन्थों (जैसे कुरान, हदीस आदि) की व्याख्या करते थे और मुस्लिम जनता की ही नहीं, सुल्तान की सरकार का भी मार्ग-निर्देशन करते थे। लोगों के अज्ञान के कारण, धीरे धीरे उनका वर्चस्व इतना बढ़ गया कि वे उद्दण्ड हो गये और 'उम्मत' ही नहीं, सरकार को भी उल्लू बनाने लगे, जैसा सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी (1296-1316 ई.) और काजी मुरीसुद्दीन के संवादों से स्पष्ट होता है। यह बहुत हानिकारक सिद्ध हुआ। भारत में इस्लाम का विध्वंस वाला रूप प्रस्तुत किया गया और हजरत मुहम्मद साहिब के शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व (Peacefull Co-existence) के सिद्धान्त12 पृष्ठभूमि में पड़े रह गये।

अमीर ख़ुसरो (1253-1325 ई.)

सल्तनत-काल को पूर्णतया अन्धकार-युग होने से कुछ सन्तों, कवियों और विद्वानों ने बचाने की कोशिश की। इनमें अमीर खुसरो (1253-1325 ई.) का नाम उल्लेखनीय है। उनका जन्म गंगा के किनारे पटियाली में हुआ था। वे फारसी के अप्रतिम कवि और विद्वान थे। उन्होंने फारसी में पाँच दीवान, पाँच मसनवी (जिनमें 'नुह-सिपहर' भी है), पाँच खमसा, गजलें, तीन गद्य-ग्रन्थ जिनमें ऐतिहासिक ग्रन्थ 'खजाइनुल-फुतूह' भी है, और 'हिन्दवी' (या हिन्दी) में 'खालिकबारी' और अनगिनत गीत, दोहे, चौपदे, पहेलियाँ, मुकरियाँ और अन्य कविताएं लिखी हैं।[13] उन्होंने अखिल-अरबवाद को पूर्णतया नकार दिया और स्पष्ट कहाः *तुर्क हिन्दोस्तानीम मन हिन्दवी गोयम जवाब, शकर मिस्री न - दारम कज़ अरब गोयम सुखनं*[14]। (मैं भारतीय तुर्क हूँ और आपको 'हिन्दवी' में उत्तर दे सकता हूँ। मेरे पास अरब की और अरबी भाषा बोलने के लिये मिस्र की शक्कर नहीं है)। चू मन तूती - ए - हिन्दम रास्त पारसी, ज़े मन हिन्दुई (हिन्दवी) पार्स ता नग़ज़ गोयम[15]। (मैं हिन्दुस्तान की तूती हूँ, इसलिये मुझसे 'हिन्दवी' में पूछो जिससे मैं आपसे स्वच्छन्द और स्वाभाविक रूप से बात कर सकूँ)।

भारतीय ज्ञान और विद्वत्ता की उत्कृष्टता पर ही नहीं, खुसरो ने भारतीय भाषाओं की श्रेष्ठता पर भी विस्तार से लिखा।[16] उन्होंने पहले अरबी, फारसी और तुर्की भाषाओं की तुलनात्मक विवेचना की। जब तुर्क भारत में आये तो वे फारसी बोलते थे, जब कि भारतवासी 'हिन्दवी'

बोलते थे। वे कहते हैं कि मैं हिन्दुस्तानी हूँ और मुझे अपने देश की बात करनी चाहिये। इस देश में विभिन्न भाषाएँ हैं जैसे सिन्धी, लाहौरी (पंजाबी), कश्मीरी, तिलंगी (तेलुगू), माबारी (तमिल), धुरसमुद्री (कन्नड़), गूजर (गुजराती), बंगाली, अवधी और देहली (हिन्दवी)। ये सब हिन्दवी (या हिन्द की)17 भाषाएं हैं और अपने-अपने प्रदेश में आम आदमी इन्हें ही बोलता है। ब्राह्मणों की भाषा संस्कृत है जिसकी अपनी शब्दावली, व्याकरण, परिभाषाएँ, व्यवस्था, नियम और साहित्य है। इसी में चार वेद लिखे हुए हैं जो समस्त ज्ञान और विद्वत्ता के स्रोत हैं। वैदिक साहित्य से ही लोग सभी कलाएं और विज्ञान सीखते हैं।

ख़ुसरो कहते हैं कि संसार के सभी देशों में भारत देश सर्वोत्तम है। इसके दो कारण हैं : पहला यह कि यह मेरा जन्म स्थान है, मेरी मातृ-भूमि है, 'मेरा-वतन' है और पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद साहब का यह कहना (हदीस) है (जो धर्म का अंग है) कि वतन (अपने देश) का प्यार (अर्थात देशभक्ति) ईमान (धर्म) का सार है[18] : 'हुब्बुल-वतन-मिनल-ईमान'। यह भारतीय राष्ट्रीयता (Indian Nationalism) का प्रतिपादन ही नहीं, उद्घोष भी है और जिस निर्भीकता से ख़ुसरों ने उस काल में, यह कहने का साहस किया, वह वन्दनीय है! दूसरा कारण जो ख़ुसरो बताते हैं यह है कि यहाँ हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया हैं जो 'कुत्बे ज़मा' (संसार का केन्द्र) हैं।

इस पृथ्वी पर भारत ही स्वर्ग है इसके ख़ुसरो सात कारण बताते हैं और भारत की प्रकृति, मौसम, पशु-पक्षी, फल-फूल, ज्ञान-विज्ञान, सभ्यता और संस्कृति के आधार पर भारत की विलक्षणता और श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं।[19] ख़ुसरो ने अरबवाद के स्थान पर भारतीयता की स्थापना की और दिल्ली सल्तनत को पहली बार देश-भक्ति का पाठ पढ़ाया। उन्होंने सही अर्थों में भारतीय मुसलमानों के लिये एक नया रास्ता खोला।

समन्वय की प्रक्रिया मुगल काल (1526-1658)

सन 1526 ई. में दिल्ली सल्तनत चरमराकर ढह गयी और एक नये युग का सूत्रपात हुआ। बाबर ने भारत में मुग़ल-वंश की नींव डाली। वह मध्य एशिया से आया था। वह माँ की ओर से चंगेज़ ख़ाँ (तिमूजीन) और पिता की ओर से तैमूर (तैमूरलंग) से सम्बन्धित था, और उसकी रगों में शाही ख़ून था। वास्तव में वह 'चग़ताई-तुर्क' था किन्तु भारत में उसका वंश 'मुग़ल' नाम से विख्यात हुआ। वह पढ़ा-लिखा, विद्वान, कला-पारखी और उदार सूफ़ी विचार - धारा का व्यक्ति था और धार्मिक कट्टरता उसे छू भी नहीं गयी थी। वह नियमित रूप से अपने संस्मरण (Memoirs, Diary) लिखता था जो 'बाबर-नामा' के नाम से हमें उपलब्ध है।[20] इसमें उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। उस पर अयोध्या के राम मन्दिर को तोड़कर मस्जिद बनाने का आरोप बिल्कुल झूठ और गलत है उसने कहीं भी कभी कोई मन्दिर ध्वस्त नहीं किया और वह सदैव सह-अस्तित्व के सिद्धान्त का पालन करता था और इसी नीति से उसने भारत में चार वर्ष (1526-1530 ई.) राज किया। इस लघु अवधि में राज्य को एक नयी दिशा दिखाई। सल्तनत काल के सैनिक कब्जे को सही अर्थों में राज्य (State) बना दिया।

उसकी 11 जनवरी 1529 ई. की, धौलपुर से अपने पुत्र हुमायूँ के नाम एक वसीयत (Testament) मिली है जिसमें वह एक सिद्धान्त का, राज्य की मूलभूत नीति की तरह प्रतिपादन करता है, वह लिखता है - बेटे दीर्घायु हो। हिन्दुस्तान में विभिन्न धर्म हैं, अल्लाह ने अब इस देश का शासन हमें सौंपा है, यह आवश्यक है कि धार्मिक कट्टरता और मतान्धता बिल्कुल समाप्त कर दी जाये और प्रत्येक धर्म को अपनी अपनी आस्था के अनुसार न्यायोचित स्वतन्त्रता दी जाये। गाय का वध बिल्कुल न किया जाये। राज्य में किसी भी अन्य धर्म के मन्दिर और पूजा स्थल अपवित्र न किये जायें। ... ऐसा न्याय दिया जाये कि रय्यत (प्रजा) बादशाह से और बादशाह रय्यत से खुश रहे (उनमें पूर्ण सामंजस्य और समन्वय हो)। इस्लाम का पालन अत्याचार से नहीं न्याय और उपकार से किया जाना चाहिए।[21] बाबर ने भारत के बादशाह को इस्लाम के ख़लीफ़ा की वैधानिक अधीनता से मुक्त कर दिया, उसे स्वतन्त्र (Independent)और प्रभुसत्ता-सम्पन्न (Sovereing) बना दिया और अपने राज्य को वास्तव में राज्य (State) बना दिया। इससे भारत में मुसलमानी राज्य का स्वरूप ही बदल गया।

मुगल-काल की शुरुआत में कुछ समय के लिए शेरशाह सूर (अथवा सूरी) का शासन रहा जो अफ़ग़ान था, वह भी उक्त सिद्धान्तों से बड़ा प्रभावित था और उसकी समझ में भी आ गया था कि यदि भारत में राज्य करना है तो यह अत्याचार और वैमनस्य (Confrontation) से नहीं, धार्मिक सहिष्णुता और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व से ही सम्भव होगा। शेरशाह ने मात्र पाँच वर्ष (1540 से 1545) राज्य किया किन्तु इस अल्पावधि में उसने शान्ति-व्यवस्था (Law and Order) और सड़क-सराय निर्माण जैसे कुछ कल्याणकारी संस्थान (Institution) भारत को दिये जिनके लिये उसे स्मरण किया जाता है। उसने लूटमार बन्द कर दी और देश में ऐसी सुरक्षा स्थापित की कि जिसके विषय में उसका इतिहासकार लिखता है कि शेरशाह के राज्य में एक जर्जर बुढ़िया सिर पर गहनों की टोकरी रखकर एक कोने से दूसरे कोने तक जा सकती थी, उसे कोई लूट नहीं सकता था। उसने सारे राज्य में सड़कों का जाल बिछा दिया और उन सड़कों पर नियमित सरायें बनवाई जिनमें हिन्दू और मुसलमानों के लिये रहने और खाने की अलग-अलग व्यवस्था राज्य की ओर से की गयी।

मुगलवंश के क्रम में अल्प समय के लिए सूरवंश के शासन के पश्चात अनुल्लेखनीय मुगल बादशाह हुमायूं के बाद बादशाह अकबर ने मुग़ल राज्य की बागडोर सँभाली और लगभग 50 वर्ष (1556 से 1605 ई. तक) राज्य किया। उसका बालपन बड़ी विषम परिस्थितियों में बीता था और इन कठिनाइयों में तपकर वह कुन्दन हो गया था। वह दृढ़ निश्चय अदम्य साहस और उत्साह, सिंह जैसी निर्भीकता, अथक परिश्रम और पराक्रम, और सहज बुद्धि का अत्यन्त विचारवान, दूरदर्शी और अदभुत् प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति था।. उसने छोटे से मुगल राज्य को धीरे धीरे इतना बड़ा साम्राज्य बना लिया जो काबुल से आसाम तक और काश्मीर से अहमदनगर तक फैला हुआ था। इतना बड़ा राज्य तो मौर्य और गुप्त राजाओं का भी नहीं था। उसने मध्यकालीन राज्य (State) का स्वरूप ही बदल दिया और एक नये युग का सूत्रपात किया। उसने सारे देश में एक समान व्यवस्था स्थापित की, एक सिक्का, एक नाप-तोल, एक भाषा, एक मिलीजुली संस्कृति, एक वेशभूषा, एक कर व्यवस्था, खेती व्यापार की एक पद्धति और एक कानून, जिसमें कहीं भी जाति, धर्म, सम्प्रदाय, क्षेत्र या अन्य कोई भेद नहीं था, और किसी तरह का भी किसी के लिये भी कोई आरक्षण नहीं था। उसने बिखरे हुए भारत को एक धागे में पिरोकर एक राष्ट्र (Nation) बना दिया और इसीलिये भारतीय मनीषियों ने उसे चक्रवर्ती (अथवा 'राष्ट्रीय' National) सम्राट की उपाधि से विभूषित किया।

मुल्ला-मौलवी अखिल-अरबवाद (Pan-Arabism) के राजदूत (Ambassador) थे और हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता के मार्ग में सबसे बड़े अवरोधक थे, उनके पर कतरना बड़ा आवश्यक था। अकबर ने 1576 ई. में फतेहपुर सीकरी में इबादत-खाने की स्थापना की।[22] यहाँ धार्मिक और दार्शनिक विवादों पर विचार करने के लिये पहले मुल्ला-मौलवियों को, और फिर ईसाई, पारसी जैन और हिन्दू विद्वानों को बुलाया गया और विभिन्न विषयों पर गहन विचार-विमर्श हुआ। सत्य क्या है और व्यावहारिक जीवन में उसका क्या स्वरूप हो? मुल्ला-मौलवियों के 7वीं शताब्दी ई. के संकीर्ण और संकुचित दृष्टिकोण की धज्जियाँ उड़ गयीं और 'अरबवाद' के उनके सिद्धान्त नकार दिये गये। यह स्पष्ट हो गया कि उनके कट्टर धार्मिक आदेशों (फतवों) के अनुसार हिन्दुस्तान में राज्य नहीं किया जा सकता है।

अकबर ने अरब-खिलाफ़त के स्थान पर भारतीय राजतन्त्र की स्थापना की और स्वयं को पूर्णतया स्वतन्त्र और प्रभुसत्ता-सम्पन्न (Independent and Sovereign) सम्राट् (बादशाह) घोषित कर दिया। यही नहीं, उसने अपने राजतन्त्र (Polity) को दैविक संस्थान (Divine Institution) बना दिया और मुग़ल सम्राट को सुल्तान अल-जिल्ले अल्लाह (राजा ईश्वर की प्रतिच्छाया है) और बूद-साया ए-नूर-अल्लाह (वह पृथ्वी पर ईश्वर के प्रकाश की छाया है) की परिभाषाओं से विभूषित कर दिया। उसने किसी भी ख़लीफ़ा की वैधानिक (De Jure) अधीनता मानने से बिल्कुल इन्कार कर दिया और स्वयं को ही ख़लीफ़ा-अल्लाह (अल्लाह का ख़लीफ़ा) उद्घोषित कर दिया। सन 1579 ई. में अकबर ने फतेहपुर सीकरी की जामा मस्जिद में स्वयं यह खुतबा (राजकीय घोषणा)

पढ़ा : खुदाबन्द के मरा ख़ुसरो-ए-दाद, दिले-दाना ओ बाज़ू-ए-कवि। दाद, ब-अदला ओ दाद मरा रहनमुन कर्द, बजुज़ अद्ल अज़ खियाल-ए-मा बरूँ - कर्द। बूद वसफश जे हद्द-ए-फहम बर्तर, तो आला शनूनू अल्लाहो-अकबर[23]। (अल्लाह ने हमें प्रभुसत्ता दी है, उसी ने एक समझदार दिल और मज़बूत हाथ दिये हैं, उसने ही हमें न्याय और समानता के सिद्धान्त दिये हैं और इनके अतिरिक्त अन्य सभी दुष्ट विचार हमसे हटा दिये हैं। उसकी प्रशंसा सर्वोत्तम विचारधारा है, वह अकबर महान में वास करता हैं, वही अकबर है अर्थात महान हैं)।

अकबर ने इसी क्रम में मुल्ला-मौलवियों से महज़र (धार्मिक घोषणापत्र) पर हस्ताक्षर कराकर उसे प्रचारित कर दिया[24] जिसमें उन्होंने अकबर को 'इमाम-ए-आदिल' अर्थात सम्पूर्ण विश्व का न्यायशील 'इमाम' या ख़लीफ़ा (अर्थात सर्वोच्च पदाधिकारी) माना और यह स्वीकार किया कि सांसारिक (Temporal) मामलों में ही नहीं, धार्मिक (Ecclesiastical) मामलों में भी अकबर का निर्णय सर्वमान्य होगा और राज्य के हित में वह नये अध्यादेश भी जारी कर सकता है। इस तरह राज्य के मामलों में धार्मिक निर्देश ही नहीं, किसी प्रकार का भी हस्तक्षेप बन्द कर दिया गया और मुल्ला-मौलवियों को मस्जिदों में सीमित कर दिया गया। सन 1580 ई. में उसने संस्कृत और अरबी फारसी के विद्वानों को बैठाकर अल्लोपनिषद्[25] (अल्लाह का उपनिषद्) की रचना कराई। इसमें अल्लाह को वैदिक देवताओं के समकक्ष मानकर उसकी वन्दना की गयी और परोक्ष रूप से इस्लाम के मूलमन्त्र कलमा को भी बदल दिया गया। 'अल्लोरसूल-महामद्-अकबरस्य अल्लो-अल्लाम्-इल्लल्लेति इल्लल्लाः (अल्लाह एक है. सर्वज्ञ है और महामद् अकबर अर्थात मुहम्मद अकबर या अकबर महान उसका रसूल (पैग़म्बर) है, वह सर्वव्यापी है, सर्वज्ञ है और सदैव है)।

सन 1582 में अकबर ने दीन-ए-इलाही[26] (ईश्वरीय धर्म, The Diving Faith) की स्थापना की। इसे तौहीद-ए-इलाही (एकेश्वरवाद, Divine Monotheism) भी कहते हैं। यह धर्म कम और आचार संहिता (Code of Conduct) अधिक था। इसमें कोई मस्जिद-मन्दिर, मुल्लामौलवी-पुजारी, अनुष्ठान या आराधना पद्धति नहीं थी. केवल गुरु अर्थात बादशाह अकबर के प्रति सम्पूर्ण समर्पण और श्रद्धा का विधान था और स्पष्ट ही यह सामन्त वर्ग के लिये बना था। यह जलालुद्दीन अकबर का जलाल (पराक्रम) ही था कि उसने इस्लाम के समकक्ष एक नयी धार्मिक व्यवस्था की प्रतिष्ठा करने का साहस किया। यह द्रष्टव्य है कि ये सभी सुधारात्मक प्रयोग (Reformatory Innovations) फतेहपुर सीकरी में 1572 से 1585 के मध्य किये गये।

सामन्त विश्वासपात्र और राज्य के प्रति पूर्णतया समर्पित हों, इस हेतु उसने प्रशासन में मनसबदारी व्यवस्था चलाई। मनसब से तात्पर्य पद (Rank) से है, अर्थात मनसब से मुग़ल दरबार और साम्राज्य में उस सामन्त का पद या स्थान सूचित होता था और उसी के अनुसार उसे उतने घुड़सवार लेकर मुहिम पर जाना पड़ता था। इस सेवा के बदले उसे भारीभरकम मासिक वेतन मिलता था। उदाहरणार्थ 1000 सवार के मनसबदार का अर्थ था कि उसे 1000 घुड़सवार रखने पड़ते थे। जिनके खर्च के लिये उसे रु. 8000/- प्रति मास के हिसाब से मिलते थे (तब सोना 10/- प्रति तोला मिलता था। अर्थात उसे 800 तोले सोना (अर्थात 10 सेर सोना) प्रति मास वेतन मिलता था। इससे मुग़ल साम्राज्य की सम्पन्नता और वैभव का अनुमान लगाया जा सकता है। यह सवार-मनसब की व्यवस्था थी।

'जात' (Zat) मनसब उसका व्यक्तिगत (Parsonal) पद होता था जिसके लिये उसे घुड़सवार नहीं रखने पड़ते थे। सवार मनसब में निश्चित संख्या के अनुसार पूरे या आधे या एक तिहाई अनुपात में घुड़सवार रखने पड़ते थे और युद्ध के समय उन्हें लेकर मोर्चे पर जाना पड़ता था। यह सैनिक व्यवस्था थी जिसके आधार पर ही सरकार चलती थी सभी सामन्त मनसबदार होते थे चाहे वे बीरबल या तानसेन हो उनके मनसब के अनुसार ही उन्हें दरबार से वेतन मिलता था। राजपूत राजाओं से भी जब सन्धि होती थी, तो उन्हें भी मनसब दिया जाता था। आमेर के कछ्वाहों को बड़े बड़े मनसब प्राप्त थे, जैसे राजा मानसिंह को 5000 का मनसब था (पंजहज़ारी)। महाराणा प्रताप से तो सन्धि नहीं हो सकी किन्तु उनके पुत्र महाराणा अमरसिंह से जहाँगीर की सन्धि

हुई तो कुँवर करण को 5000 का मनसब दिया गया। राजपूत ख्यातों में इसे चाकरी कहा गया है। यह द्रष्टव्य है कि अकबर ईरानी-तूरानी और अफ़गान सामन्तों पर उतना भरोसा नहीं करता था जितना राजपूतों पर। उसने राजपूतों से विवाह सम्बन्ध करके मध्यकाल में पहली बार एक विशुद्ध देशी अर्थात राजपूत सामन्तशाही (Nobility) बनाई थी जो उसके लिये प्राण न्यौछावर करने को तैयार रहती थी। मुग़ल साम्राज्य वास्तव में राजपूत सामन्तों के कन्धों पर टिका हुआ था।

अकबर ने अरबी हिजरी चन्द्र संवत के स्थान पर सौर (Solar) संवत 'तारीख़-ए-इलाही' नाम से चलाया जिसमें अरबी महीनों की बजाय ईरानी यज्दीगर्द संवत के महीने लगाये गये। अरबी पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और संस्कृत को मुक्त प्रोत्साहन दिया जाने लगा। पुरुषोत्तम नामक विद्वान को राज्य की सभी विधाओं के संस्कृत नाम ढूंढ़ने का काम सौंपा गया। फ़ारसी के साथ साथ, सिक्कों के नाम 'रहस' (रहस्य), आत्मा, विन्शति, धन, 'कला' आदि संस्कृत में रखे गये। देशी वेशभूषा बनाई गयी और वस्त्राभूषणों के नाम भी देशी रखे गये जैसे जामा को 'सर्वगाति', बुर्के को चित्रगुप्त, पगड़ी को शीशशोभा और जूते को चरण-धरण नाम दिये गये। यही नहीं उसने भारतीय रीति-रिवाज़ों जैसे झरोखा-दर्शन, तुला-दान, राखी, टीका आदि का नियमित पालन करना आरम्भ कर दिया। इस तरह अकबर ने 'अखिल-अरबवाद' (Pan Arabism) की जड़ें खोद दीं और उसके स्थान पर सभी राजकीय कार्यों में भारतीयता की स्थापना की। मुग़ल राज्य (Mugal State) विशुद्ध भारतीय राज्य बन गया।

अकबर की सूर्य में बड़ी आस्था थी और तत्कालीन स्रोतों और साक्ष्यों के अध्ययन से कोई सन्देह नहीं रह जाता कि वह प्रतिदिन प्रातः सूर्य की उपासना करता था।[27] उसका सूर्य-सहस्र नाम का एक रेखाचित्र (Diagram) मिला है जिसमें वृत्तों में सूर्य के सहस्र नाम अंकित हैं और अन्त में लिखा है *अमुं श्री सूर्यसहस्रनाम स्तोत्रं प्रत्यहं प्रणामत्, पृथ्वीपति कोटीरकोटि संघहित पदकमल, त्रिखण्डाधिपति दिल्लीपति पातिसाहि श्री अकबर साहिजला (ल) दीनः। प्रत्यहं शृणोति सोपि प्रतापवान भवतु।।*[28] उसकी व्यक्तिगत ढाल पर सूर्य की अनुकृति बनी है। उसकी सभी इमारतें पूर्वाभिमुख हैं। वह प्रतिदिन सूर्योदय के दर्शन करता था, उसी समय जनता वहाँ एकत्रित हो जाती थी और उसकी जयजयकार करती थी। इसे 'झरोखा-दर्शन' कहते थे जो दरबार की तरह मुग़ल बादशाहों का एक आवश्यक दैनिक अनुष्ठान बन गया था। उसी अवसर पर वह प्रजा की शिकायतें भी सुनता था और उनका निराकरण भी करता था। फतेहपुर सीकरी में उसने एक इमारत 'एकस्तम्भ - प्रासाद' सूर्य के प्रतीक को साकार रूप देने के लिये बनवायी[29]। सूर्योदय के समय सूर्य की पहली किरणें इस इमारत पर पड़ती हैं।

अकबर ने भारतीय संगीत, चित्रकला, स्थापत्य और साहित्य को अभूतपूर्व संरक्षण और प्रोत्साहन दिया[30]। 'संस्कृत और हिन्दी के विद्वानों और कवियों को मुगल दरबार में आश्रय दिया गया, बड़े बड़े ग्रन्थ लिखे गये और अनूदित हुए[31]। रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों को चित्रित किया गया। मुग़ल दरबार में तानसेन जैसे संगीतज्ञ शोभा पाते थे। इन सांस्कृतिक गतिविधियों ने मुग़ल साम्राज्य को संस्कृति-राज्य बना दिया और अकबर के सिद्धान्त और संस्थान हिंदुस्तानी सभ्यता के स्तम्भ बन गये। राज्य के सभी अंगों का भारतीयकरण हो गया, अर्थात 'अखिल-अरबवाद' के स्थान पर भारतीय राष्ट्रीयता की स्थापना हो गयी। मध्यकाल में यह पहली विशुद्ध भारतीय सरकार बनी जो पूर्णतया धार्मिक सहिष्णुता और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्तों पर राज करती रही।

अकबर के पश्चात, उसका बेटा जहाँगीर (1605-27) और जहाँगीर के बाद उसका बेटा शाहजहाँ (1628-58) निरन्तर अकबर के पदचिह्नों पर चलते रहे और मुग़ल साम्राज्य निरन्तर प्रगति करता रहा। फिर आया 'विध्वंस का दूत' औरंगज़ेब आलमगीर (1658-1707) जो मुग़लों की भव्य इमारत को ढहाने में लग गया; अकबर के जिन सिद्धान्तों और संस्थानों पर मुग़ल साम्राज्य खड़ा था, उसने उन्हें धूल में मिला दिया और रौंद डाला[32]। यह किया सो तो किया, उसने आगे आनेवाली पीढ़ियों को भी बिगाड़कर रख दिया, परवर्ती मुग़लों के अधःपतन के लिये कोई और नहीं, औरंगज़ेब आलमगीर ही जिम्मेदार था। उसने इस्लामी कट्टरता एवं अरबीकरण को प्रारम्भ कर दिया, जजिया कर लगा कर, मंदिरों का विध्वंस कर,

धार्मिक आधार पर क्रूर हत्याएं करवा कर।

अंग्रेज़ी राज्य और ईसाई (1803-1947)

इस अरबीकरण की आंधी पर स्वदेशी मराठा शक्ति के अभ्युदय से ब्रेक लगा। इसके बाद समुद्र तट पर विकसित अंग्रेजी ईसाई सभ्यता संस्कृति का आगमन भारत में हुआ। यद्यपि इसका परिवेश भिन्न था। वैसे तो ईसाई (Christians) अकबर के काल से ही आने आरम्भ हो गये थे, किन्तु 1803 ई. में भारत में अँग्रेज़ी राज्य की स्थापना के बाद तो ईसाई धर्म यहाँ पूर्ण रूप से आ गया। परन्तु हिन्दू और ईसाइयों में सभ्यता या संस्कृति को लेकर, या कोई धार्मिक संघर्ष या ख़ून-खराबा कभी नहीं हुआ, इक्का-दुक्का कुछ सिरफिरे उन पादरियों के साथ हिंसा अवश्य कर बैठते हैं जो शान्तिपूर्ण-धर्मान्तरण (Peaceful Conversion) में लगे होते हैं। अन्यथा भारतीय ईसाई (Indian Christians) और अंग्रेज़-भारतीय (Anglo-Indian) यहाँ समाज में पूर्ण शान्ति, सहयोग और सौहार्द के साथ घुल-मिलकर रहते रहे हैं। राजसत्ता तो उनके पास भी थी, किन्तु उन्होंने कभी भी हिन्दुओं के मन्दिर नहीं तोड़े, न अन्य किसी तरह भी उनकी धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचाई। उन्होंने कभी हिन्दुओं के धर्म का अनादर नहीं किया, जो सब कुछ उन्हें सल्तनत-काल में और औरंगज़ेब के शासन काल में झेलना पड़ा था।

ईसाइयों का शिक्षा (Education) और स्वास्थ्य (Medical), नागरिक जीवन को दो अत्यन्त महत्वपूर्ण और मूल-भूत क्षेत्रों में सकारात्मक (Positive) और अभूतपूर्व योगदान है। उन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा (Convent) से लेकर कॉलेज शिक्षा तक, सारे देश में स्कूल और कॉलेज स्थापित किये और जनता के लिये अस्पताल खोले जिनमें नर्सिंग (Nursing) का नया आयाम आरम्भ किया। अँग्रेज़ी भाषा और सभ्यता के साथ-साथ भारत में आधुनिक युग का उदय हुआ। नागरिक कानून (Civil Law) बने जो पूर्णतया धर्मनिरपेक्ष (Secular) थे और इससे एक धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना हुई। यह सत्य है कि अंग्रेज-काल में हम राजनीतिक दृष्टिकोण से मात्र एक उपनिवेश (Colony) बनकर रह गये, जिस दासता के दुष्परिणाम हम आज तक भोग रहे हैं। किन्तु इसके बिना भी शायद हम मध्यकाल (Medieval age) में पड़े रह जाते। इस नये युग ने हमें ठगों-पिण्डारियों की अराजकता और निकम्मे, मूर्ख, आलसी और अय्याश परवर्ती मुग़लों (1707-1803) के कुशासन से ही नहीं, सदा-सदैव के लिये उस बद्दू अरब-सभ्यता से भी मुक्ति दिला दी जो राजनीति के डण्डे से हमारे ऊपर थोपी जा रही थी। यह इसलिये हुआ कि ईसाई धर्म यूरोप और विशेषकर इंगलैण्ड जैसे सभ्य और सुसंस्कृत देश से आया था और यह धर्म सभ्य और सुसंस्कृत जातियों का धर्म था। जब कि इस्लाम अरब-धर्म था, उन अरबों का धर्म था जिन्हें इब्ने-ख़ल्दून जैसे विद्वान इतिहासकार ने 'वहशी' (जंगली, असभ्य) कहा है।

यह द्रष्टव्य है कि इस्लाम केवल एक धर्म ही नहीं है, यह एक सामाजिक विधिक (Legal) और राजनीतिक व्यवस्था भी है, और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस्लाम एक राष्ट्रीयता भी है, अर्थात यह 'अरब-राष्ट्रीयता' है जिसमें किसी अन्य राष्ट्रीयता के लिये कोई जगह नहीं है। यह 'अखिल-अरबवाद' (Pan– rabism) है। वस्तुतः राष्ट्र (Nation) और राष्ट्रीयता (Nationality) समान धर्म से नहीं बनते, समान भाषा और संस्कृति से बनते हैं। उदाहरणार्थ, 1947 में पूर्वी-बंगाल को समान धर्म के आधार पर पाकिस्तान में सम्मिलित कर दिया गया, किन्तु कालान्तर में, वह पश्चिमी पाकिस्तान से पूर्णतया असमान भाषा और असमान संस्कृति के कारण अलग हो गया और बंगाली-राष्ट्रीयता (Bengali Nationality) के आधार पर एक स्वतन्त्र और प्रभुसत्ता-सम्पन्न राष्ट्र, देश और राज्य बन गया। यह बात कि इस्लाम धर्म राष्ट्रीयता भी प्रदान कर सकता है, बिल्कुल ग़लत सिद्ध हो गयी। सातवीं शताब्दी ई. में केवल बद्दू अरबों के लिये प्रतिपादित यह अवधारणा आधुनिक काल में नहीं चल सकती। 'अरबवाद' राष्ट्रीयता नहीं है और यह बद्दू अरब सभ्यता भारत में राष्ट्रीयता का पर्याय न बनीं, न बन सकती है।

सन्दर्भ

1.अब्दुर्रहमान इब्ने-ख़लदून, 'किताबुल-इब्र' (इब्ने-ख़लदून का मुक़द्दमा); विश्व इतिहास की प्रस्तावना (1332-1406 ई.), हिन्दी अनुवाद डा. एस.ए.ए. रिज़वी (हिन्दी समिति उतर प्रदेश लखनऊ 1961), अनुवादक की विद्वत्तापूर्ण और उपयोगी भूमिका पृ.1-77 और 'मुक़द्दमा' पृ.1-532 (मूल्य

केवल रु. 10/-), यह अरबों के इतिहास पर अद्भुत और अद्वितीय ग्रन्थ है जिसका संसार की लगभग सभी भाषाओं में अनुवाद हो चुका हैं, वैसे इस विषय पर और भी बहुत से उत्कृष्ट ग्रन्थ हैं जैसे पी. के. हिट्टी का हिस्ट्री ऑफ दि अरब्स (न्यूयार्क 1951), किन्तु इब्ने ख़लदून ने जो मूल तथ्य दिये हैं और जो निष्पक्ष व्याख्या की है, वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं है, इसे पढ़े बिना अरबों का और इस्लाम का इतिहास आधा-अधूरा ही समझा जा सकता हैं, इब्ने-ख़लदून की जीवनी और उसके इतिहास-ग्रन्थ के लिए देखिए वही, अनु. रिज़वी की भूमिका, पृ. 47-77। **2.** असभ्य, जंगली (Savage)। **3.** इब्ने-ख़लदून, वही, पृ. 94, 96। **4.** वही, अनुवादक की भूमिका, पृ. 5। **5.** 'उम्मत' (अरबी उम्मह) से जन समुदाय (People) या क़ौम (Nation) से तात्पर्य है जो इस्लाम धर्म से परस्पर सम्बद्ध हों, देखिये टी. पी. ह्यूज की डिक्शनरी ऑफ इस्लाम (लन्दन, 1885) पृ. 654, कुरान में उम्मत शब्द 40 बार आया है। **6.** अ.यू. अब्दुल्लाह यूसुफअली का कुरान का सर्वाधिक प्रामाणिक अँग्रेजी अनुवाद जो लाहौर से 1937-38 में तीन खण्डों में 'दि होली कुरान' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। **7.** तुर्कशाही और हिन्दूशाही वंशों के इतिहास के लिये देखिये अब्दुर्रहमान का शोध-ग्रन्थ 'दि लास्ट टू डायनेस्टीज ऑफ दि शाहीज' (इस्लामाबाद, 1979)। **8.** इन मन्दिरों के विवरण हेतु देखिये 'टैम्पिल्स आफ कोह-ए-जूद एण्ड थार' (सं. के. के. मुमताज़), लाहौर, 1989 और इसकी विस्तृत समीक्षा (रिव्यू) के लिये आर. नाथ. कृत इन्डोलौजीका-ब्रजेन्शिया, भाग-3 (आगरा, 2004) पृ. 252-255. यह द्रष्टव्य है कि काबुल, पेशावर और लाहौर के मन्दिरों के अवशेष भी नहीं मिले हैं। **9.** तत्कालीन संस्कृत ग्रन्थों में इन्हें 'तुरूष्क', 'म्लेच्छ' और 'गर्जर - मतङ्ग' नामों से उल्लेख किया गया है। **10.** वास्तव में यह अशोक स्तम्भ (लाट) है जिस पर अशोक मौर्य का लेख (Edict) है। यह स्तम्भ मूल रूप से अम्बाला के समीप टोपड़ा नामक स्थान पर खड़ा था और विग्रहराज- चतुर्थ (1151-67) ने भी अपने तीन शिलालेख (प्रशस्तियाँ) इसी पर उत्कीर्ण कराये थे, देखिये एफ. कीलहौर्न कृत इण्डियन एन्टीक्वेरी, भाग-19 (1890) पृ. 215-18. कालान्तर में दिल्ली का सुल्तान फ़िरोज़ तुग़लक़ 1367 ई. में इस स्तम्भ को वहाँ से उखाड़ लाया और उसे अपने बसाये हुए नगर फ़िरोज़ाबाद की जामा मस्जिद के सामने खड़ा कर दिया और अब यह कोटला-फ़िरोज़शाह में खड़ा है, देखिए आर. नाथ.'हिस्ट्री ऑफ सल्तनत आर्कीटैक्चर' (नई दिल्ली 1978) पृ. 67 और परिशिष्ट - पृ. 73-75 जिसमें इस स्तम्भ को टोपड़ा से दिल्ली तक यमुना नदी के रास्ते कैसे लाया गया, इसका वर्णन है। **11.** 'खामिस' अरबी शब्द है जिसका अर्थ हैं पाँचवाँ हिस्सा, 'ख़म्स' का शाब्दिक अर्थ सम्पति का वह पाँचवाँ हिस्सा हैं जो सरकारी ख़ज़ाने (बैतुल माल) में जमा किया जाता था, सल्तनत काल में लूट के माल में सरकार का जो पाँचवाँ हिस्सा निश्चित किया गया था वह भी 'ख़म्स' कहलाता था और सल्तनत को इससे तीनों करों से भी अधिक आमदनी होती थी। **12.** कुरान, II, 256 (अ.यू. 103) और IX 29 (अ.यू. 447)। **13.** विस्तृत अध्ययन के लिये देखिए आर. नाथ. कृत 'इण्डिया एज़ सीन बाई अमीर ख़ुसरो' (जयपुर 1981)। **14.** वही, पृ. 17। **15.** वही, पृ. 18। **16.** वही, पृ. 69-76। **17.** बाबर (1526-1530 ई.) ने अपनी आत्मकथा में 'हिन्द' और 'हिन्दुस्तान' का निरन्तर उल्लेख (इन्हीं नामों से) किया है देखिए, आर. नाथ. इण्डिया एज़ सीन बाई बाबर (नई दिल्ली 1996) पृ. 34, 35, 47-87। **18.** इण्डिया एज सीन बाई अमीर खुसरो, उपर्युक्त, पृ. 28। **19.** वही, पृ. 35-43, 47-50, 53-62 और 81-93। **20.** बाबर-नामा (तुजुक-ए-बाबरी), मूल तुर्की से अंग्रेज़ी अनुवाद ए. एस. बैवरिज 2 भाग (1 जिल्द) (नई दिल्ली 1970 का रिप्रिण्ट)। **21.** पूर्ण विवरण के लिये देखिये आर. नाथ, इण्डिया एज़ सीन बाई बाबर (1504-1530) (नई दिल्ली, 1996) परिशिष्ट पृ. 18-22। **22.** आर. नाथ, हिस्ट्री ऑफ मुगल आर्कीटैक्चर भाग-2 (नई दिल्ली 1985) पृ.15-20. (संक्षिप्ति हिमुआ-2)। **23.** वही, पृ. 22। **24.** विस्तृत व्याख्या के लिये देखिये वही, पृ. 20-28। **25.** इसके संस्कृत मूल, अनुवाद और व्याख्या के देखिये, वही, हिमुआ 2. पृ. 29-36। **26.** वही, पृ. 36-42। **27.** वही हिमुआ-2 पृ. 53-58। **28.** वही, हिमुआ 2 पृ. 55। **29.** वहीं, हिमुआ -2, पृ. 251-268। **30.** वही हिमुआ पृ. 64-79। **31.** देखिये वैचारिकी, कोलकाता, भाग-31, अंक-4 (जुलाई-अगस्त 2015) पृ. 83-95। **32.** वही पृ. 83-95।

(पूर्व प्रोफेसर-अध्यक्ष इतिहास विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर),
तपस्या 7 गुलाबबारी एनक्लेव,
अजमेर-305007.

(यह लेख प्राप्त होने के पश्चात गतवर्ष प्रो. आर. नाथ का देहांत हो गया, सादर स्मरण। -सम्पादक)

❏❏

❖ *अनुभव एक रत्न है और इसे ऐसा होना भी चाहिये, क्योंकि प्रायः यह अत्यधिक मूल्य में खरीदा जाता है।* ***–शेक्सपियर***

❖ *अनुभव-प्राप्ति के लिए अत्यंत अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है, परंतु उससे जो शिक्षा मिलती है वह अन्य किसी साधन द्वारा नहीं मिल सकती।* ***–कारलाइल***

दाहिर कुमारियों का प्रतिशोध

डॉ. शिवनन्दन कपूर

‘हुजूर! कहा जाता है, मन्दर के पुजारी ने मन्तर मार ताबीज तैयार किया है। वह बुर्ज पर लहराते पर्चम की जड़ में बँधा है। काफिरों का एतबार है, ताबीज बँधे रहते उनकी हार कभी न होगीं उसी के दम पर वे इतने जोश से लड़ रहे थे! हमें उनकी कमजोरी का फायदा उठाना है। वरना फतह न होगी। जाविया उरूस (पत्थर फेंकने का यंत्र)तैयार करो।’

मचान छोटा किया गया। उरूस की गर्दन नीची कर, जाविया ने पर्चम को निशाना बनाया। जाविया उरूस से निकला पत्थर का गोला बिजली सा सनसनाता उड़ा। देखते-देखते दुर्ग का ध्वज भी उड़ गया। उसके सिरे पर बँधे कवच-ताबीज का भी पता न चला। उससे ही अभय मान राजपूत और संन्यासी लड़ रहे थे उनमें हाहाकार मच गया। पर्चम उड़ते ही वे पस्त हिम्मत हुए। पराजय का विश्वास छा गया।

सन 711 ईस्वी का काल। भारत की धरती के सोना उगलने की शोहरत अरब देशों तक फैल चुकी थी। उनमें भारत को लूटने, अपना हिलाल पर्चम लहराने का जनून ज्वार पर आया। एक बार अरबी बेड़े ने किसी तरह देवल के बन्दरगाह पर कब्जा कर लिया था। सिपहसालार फौज का एक दस्ता वहाँ छोड़ कर चला गया। उसके जाते ही सिंधियों ने फिर उसे आजाद कर लिया। अरब हमला करने का कोई बहाना तलाश करने लगे।

उन्हें वह मौका जल्द मिल गया। एक बार कुछ समुद्री डकैतों ने अरबी व्यापारियों को देवल के बन्दरगाह के पास लूट लिया। राजा दाहिर को सूचना मिली। उन्होंने दया-वश व्यापारियों को काफी धन और भोजन देकर, अरब भेज दिया। मगर खलीफा के पूर्वी प्रान्तों के सूबेदार हज्जाज ने खलीफा के इशारे पर दाहिर को लिखा, आपके इशारे पर सिपाहियों ने अरब व्यापारियों को लूटा। उसका हरजाना दो। उनकी बीबियों को देवल में रोक रखा है। उन्हें फौरन भेजो। वरना हम हमला करेंगे। दाहिर झूठे इल्जाम वाला वह खत पढ़ते ही आग हो गया। कृतघ्नों के साथ उपकार का यही फल होता है। उसने उत्तर दिया, व्यापारी हमारे बन्दरगाह के करीब नहीं, खुले समुद्र में लूटे गये हैं। समुद्री डकैतों पर हमारा वश नहीं। रहा औरतों का सवाल। हमने उन्हें बाइज्जत भेज दिया था। हम भारतीय औरतों की आबरू का खयाल रखते हैं। इस पर भी तेवर और तेग दिखाते हो तो हम तैयार हैं।’ हज्जाज के हमले का बहाना ढूँढ़ने की एक वजह थी। पाँचवें उमड्याद, खलीफा अब्दुल मलिक ने हिन्दुस्तान से हसीन बाँदियाँ खरीद लाने के लिये पैसा और फौजी बेड़ा भेजा था। उसे हुक्म था,किसी भी कीमत पर, जर या जबरियन उन्हें लाया जाये। दाहिर की नौ सेना ने देवल के बन्दरगाह पर उस बेड़े को जल-समाधि दे दी। इस अपमान से भी खलीफा खिजलाया था।

अब अब्दुल मलिक का बेटा वलीद खलीफा था। हज्जाज ने उससे हुक्म लेकर, उबैदुल्लाह को देवल पर हमला करने भेजा। मगर दाहिर की फौज ने उसे माटी में दफन कर दिया। उसके

मारे जाने पर बुदैल इस अभियान में आया। उसकी भी वही दशा हुई। दो बार नाकाम होने पर, आपे से बाहर हज्जाज ने तीसरी बार चढ़ाई की। इस बार उसने कासिम के बेटे, और अपने दामाद इमाद -उद-दीन को सिपहसालार बना, सिन्ध को नेस्तनाबूद करने भेजा। कई देशी विदेशी इतिहासज्ञों ने उसका नाम मोहम्मद कासिम लिखा है।

मोहम्मद कासिम के साथ 6000 सीरिया के चुने घुड़सवार थे। वे खलीफा के अश्वारोही-दल के चुने सिपाही थे। 6000 जॉबाज लड़ाके बैकद्रिया के खूँखार 3000 ऊँटों पर थे। पैदल सिपाहियों की तो गिनती मुश्किल थी। इनके अलावा पत्थर के गोले फेंकने वाली पाँच तोपें थी। बाद में उरूस नामक मशहूर तोप भी आगई। इन्हें चलाने के लिये 500 तोपची थे। मोहम्मद मकरान के रास्ते सिन्ध की ओर चला। मकरान में मोहम्मद हारून की टुकड़ी भी उस फौज में मिल गई। पर मोहम्मद की खुशी का ठिकाना न रहा, जब सिन्ध के जाट और मेव भी उससे आ मिले। वे ब्राह्मणों और राजपूतों के सताये थे। पेड़ अपनी शाख की बेंट लगी कुल्हाड़ियों से कटता है। अन्ध-विश्वास, छुआछूत देश को तबाह करता रहा।

सनातनियों और बौद्धों में संघर्ष चला। सिन्ध के बौद्ध इस फौज के मार्ग-दर्शक बने। दाहिर के पूर्वज चच ने उन पर बड़े जुल्म ढाये थे। उससे बौद्ध चिढ़े थे। उसकी मृत्यु के बाद पूर्णचंद्र राजा बना। ब्राह्मणों ने उसे गद्दी से उतार, उसके बेटे दाहिर को सिंहासन पर बैठाया। उसने ब्राह्मणों को प्रसन्न करने के लिये बौद्धों पर अनाचार किये थे। अब वे उसके शत्रु थे। उनमें अनेक मुसलमान बन शत्रसेना में सिपाही हो गये थे। सिन्ध की मरु-भूमि के मार्गों के इन जानकारों से बेहद मदद मिली।

आज के दरवेजी नामक स्थान के पास बसे अरमाइल के समीप से मोहम्मद ने सिन्ध की सीमा में प्रवेश किया। समुद्री मार्ग से उरूस तोप के आ जाने से उसका हौसला बुलन्द था। देवल के किले पर घेरा पड़ गया। किले में चार हजार राजपूत और तीन हजार संन्यासी तलवार और धनु वाण ले सामना करने को तैयार थे। पत्थर के उस किले पर कई दिन घेरा रहा। पर शत्रु को सफलता न मिली। दुर्ग के मन्दिर का एक पुजारी आचरण-हीनता के कारण निकाल दिया गया था। उसने मोहम्मद से मिल कर दुर्ग वालों के साहस का भेद, ध्वज में बँधा ताबीज, बता दिया।

मोहम्मद ने किले में गोले फेंकना बन्द कर, पहले झण्डे को निशाना बना दुर्ग वालों को पस्त कर दिया। जब वे घबड़ाये हताश थे, अरब सिपाही कमन्दें फेंक, और सीढ़ियाँ लगा दीवार पर चढ़ गये। बुर्ज पर चाँद के निशान वाला हरा झण्डा फहरा दिया गया। किले वालों की रही-सही हिम्मत टूट गई। अरब फौजी 'अल्लाहो अकबर' का नारा लगाते दुर्ग में कूद गये। साहस टूटने पर भी भारतीय जान हथेली पर ले, लड़े। पर वे निराश थें। सेनानी भ्रमित था। उन्हें इस्लाम कबूल करने के लिये कहा गया। मना करने पर, सत्रह साल से ऊपर के मर्दों को कत्ल कर दिया गया। औरत और बच्चे गुलाम बनाये गये। 75 महिलायें और लूट का माल खलीफा के सूबेदार हज्जाज क़ो भेज दिये गये। मन्दिर की जगह मस्जिद बनी। छावनी बना कर 4000 सिपाही वहाँ रखे गये। बाकी फौज लेकर वह आगे बढ़ा।

दाहिर ने देवल के दुर्ग के पतन को विशेष महत्व न दिया। उसने सोचा, वहाँ तो जाट और बनिये ही अधिक हैं। वह उनके सामरिक और आर्थिक महत्व को भुला बैठा। उसे वहाँ बन्दरगाह होने का भी ध्यान न रहा। यदि हमलावरों का सामना कर, उन्हें वहीं खत्म कर दिया जाता तो शायद देश पर और आक्रमण न होते।

मोहम्मद कासिम कूच करता नीरूं पहुँचा। यह आज के हैदराबाद सिन्ध के पास बसा था। यहॉ राजकुमार जयसिंह सामना करने के लिये तैयार था। पर दाहिर ने उसे वह किला छोड़ कर ब्राह्मणाबाद के दृढ़ दुर्ग में सेना सहित आने का आदेश दिया। जयसिंह दुर्ग एक पुजारी के अधीन कर चल पड़ा। उसने भी सोचा, शायद यह अपने मन्त्र बल से दुश्मनों को धूल चटा देगा। 712 ईस्वी के प्रारम्भ में मोहम्मद वहाँ पहुँच गया। पुजारी के हाथ-पाँव फूल गये। उसे तो मालपुये से मतलब। राजा कोई बने। उसने मोहम्मद के सामने समर्पण कर दिया। सैनिक देखते रह गये। मोहम्मद ने यहाँ एक मुस्लिम प्रतिनिधि छोड़ा,और सेहवॉ की ओर कूच कर गया। यह जगह उत्तर-पश्चिम में वहाँ से अस्सी मील की दूरी पर थी।

यह कस्बा भी मुख्य रूप से पुजारियों और बनियों का था। उन्हें युद्ध से क्या प्रयोजन? वे समर्पण के लिये

प्रस्तुत हो रहे थे। यहॉ दाहिर का भतीजा चन्द्र शासन कर रहा था। उसने अपनी कायर प्रजा को ललकारा। यहाँ एक सप्ताह तक भंयंकर युद्ध हुआ। बनिये भी खूब लड़े। पर अन्त में हिम्मत जवाब दे गयी। इसका भी एक कारण था। एक बौद्ध ने चुपके से नगर-द्वार खोल दिया। सब बनिये ओर संन्यासी उत्तरी द्वार से भाग कर, कुम्भ नदी पार कर गये। यह सेहवाँ से दस मील की दूरी पर बहती थी। उन्होंने कुम्भ के किनारे बसी, कोतल के पुत्र काक की नगरी बूथिया में शरण ली। सेहवाँ पर मोहम्मद का सरलता से अधिकार हो गया। कई भारतीय तलवार के घाट उतार दिये गये। जो बचे, वे जजिया (मुसलमान नहीं बनने का दण्ड-कर) देने की शर्त पर जान बचा सके। सेहवा से मोहम्मद जाटों की राजधानी सीसम की ओर बढ़ा। उस दुर्ग पर दो दिन में अधिकार हो गया। यहाँ उसने रात के अंधेरे में हमला कर, उनकी असावधानी का लाभ उठा, विजय पाई। दाहिर का भतीजा वज्र मारा गया।

यहँ से मोहम्मद दाहिर पर हमले के इरादे से नीरू की ओर लौटा। इसके लिये वह सिन्धु की प्रमुख धारा मिहरॉ को पार करना चाहता था। पर उसे बधरूप के किले में कई मास रुकना पड़ा। उसे,तथा सैनिकों को सूखा रोग हो गया। नदी पार करने के लिये नावों की कमी थी। कई घोड़े बीमारी से मर गए। हज्जाज ने उसके पास दो हजार अश्व, और सिरके में तर रूई भेजी। सैनिकों ने वह रूई पानी में भिगोई। उस पानी को पीकर, रोग से मुक्ति पाई। जून 712 में उसने बिना किसी बाधा के सिन्धु पार कर ली। दाहिर ने भी इस बीच पचास हजार अश्वारोही एकत्र कर लिये थे।

बहमनाबाद से दाहिर रावर की ओर शत्रु सेना का सामना करने बढ़ा। दोनो फौजें आमने-सामने हो गईं। किन्तु कुछ दिनों तक हलकी - फुलकी झड़पों के अतिरिक्त कुछ न हुआ। अन्त में 20 जून को दाहिर अपने गजराज पर सवार हुआ। उसने दुश्मन पर हमला करने का आदेश दिया। उसके विशालकाय हाथी चिंघाड़ते, सूँड उठाये रिपु-दल की ओर दौड़े। गगन में जैसे काले मेघों की कतार, या समुद्र की ऊंची तरंगें तेजी से भागती हैं, वैसी ही उनकी गति थी। वह जैसे काले पहाड़ों की कतार थी। मोहम्मद एक पल घबराया। पर उसे युद्धों का अनुभव था। उसके हुक्म से ‘बान’ दागे गये। वे सोंऽऽऽ की आवाज करते, कड़कते, चमकते दाहिर की वाहिनी में हाथियों के बीच गिरने लगे। गजेन्द्र भड़के। मोहम्मद ने तीरन्दाजों को आगे किया। वे हाथियों की आँखों को लक्ष्य कर प्रहार करने लगे। लड़ाई का पासा पलटने लगा। हाथी अब पलट कर, अपनी ही सेना को रौंदने लगे। भगदड़ मच गयी। एक धनुर्धर ने वाण में पलीता बाँध चला, दाहर को घायल किया। पर दाहर गज के हौदे पर खड़ा हो गया। वह अपने सैनिकों को ललकारने लगा। उसके खड़े हो जाने से सैनिकों में जोश आया। वे दुगने वेग से लड़ने लगे। लगता था, अरबों के पॉव उखड़ जायेंगे। पर दाहर का हाथी नेत्र में तीर लगने से बेचैन, सर झटकारता जल धारा की ओर भागा। उसकी घायल आँख से रुधिर - धार बह रही थी। वह हाथी की देह से होती नीचे गिर रही थीं। जैसे गेरू की रेखा से उसका शृंगार हुआ हो। महावत ने बीच धारा में गज को सँभाला।

इस बीच एक वाण दाहर के मर्म में लगा। वह हाथी से गिर पड़ा। दुर्बल मन, कॉपते तन को सँभाल वह उठा। तत्काल उठ कर उसने एक अश्व पर सवार होने का प्रयत्न किया। पर अरबों ने उसे तीरों से छलनी कर दिया। तन पर रक्त-रेखायें शौर्य गाथा लिख रही थीं। वह भारत के दुर्भाग्य के खून के ऑसू थे। दाहिर के मरते ही उसके सैनिकों का पलायन होने लगा। कुछ सैनिक राजधानी अरोर की ओर भागे। कुछ बहमनाबाद कूच कर गये। रावेर के दुर्ग में दाहिर की रानी ने बड़ी वीरता से मोहम्मद का सामना किया। परास्त होने पर उसने जौहर व्रत अपनाया। अनोखा दृश्य दिखा। शील की लपटों में रूपशिखा। बची सेना बहमनाबाद पहुँची। यहाँ मोहम्मद का कड़ा मुकाबला हुआ। 26000 भारतीय दुर्ग-रक्षा में कट मरे। वहाँ मोर्चा बनाये रखने का अनिच्छुक युवराज जयसिंह चितरूर चला गया। बहमनाबाद के कब्जे में मोहम्मद को दाहर की दो पुत्रियाँ सूर्या और प्रमिला हाथ लगीं - चाँद की किरनों सी तन्वी, सुकुमार। उन्हें मोहम्मद ने सूबेदार हज्जाज के जरिये खलीफा के पास भेज दिया। बहमनाबाद पर कब्जे और कत्लेआम के बाद मोहम्मद ने सेंधवा, नीरूं, धालिहा आदि पर अपने शासक नियुक्त कर दिये। 9 अक्तूबर को मोहम्मद अरोर के लिये रवाना हो गया।

अरोर में दाहिर का एक बेटा राज कर रहा था। उसका विश्वास था, पिता मरा नहीं है। वह सेना एकत्र कर रहा है। जब सच्चाई जानी तो रात में मुलतान भागा। व्यास नदी के उत्तरी तट पर एक दुर्ग में मोहम्मद का कड़ा प्रतिरोध हुआ। सात दिनों के भयानक युद्ध के बाद अधिकारी उसे छोड़ भागे। 4000 नागरिक मारे गये। औरतें लूटी गई। उसने सीका के किले पर धावा बोला। यहाँ कड़ी लड़ाई में उसके 25 चुने सिपहसालार और अनेक अरब खेत रहे। एक बौद्ध के विश्वासघात से उसे जीत मिल गई। अपने लोगों के मारे जाने का बदला उसने कत्ले आम से लिया।

अगला मोर्चा मुलतान का था। यहाँ भी उसे पसीना आ गया। सम्भवतः वह हारता। पर एक बौद्ध भेदिये ने दुर्ग की गुप्त नहर का पता बता दिया। मोहम्मद ने पानी रोक दिया। लोग प्यासे मरने लगे। अन्त में राजपूतों ने 'साका' किया। केसरिया बाना पहन, लड़ते मर गये। यहाँ मोहम्मद को अपार धन, सोने की ठोस मूर्ति मिली। वह मुलतान को सोने का घर कहने लगा। भीषण रक्तपात के बाद भी उसने 6000 भारतीयों को गुलाम बना कर भेजा। अमीर दाउद नस्र को मुलतान का शासक नियुक्त कर दिया गया।

x x x

खलीफा मलीद का महल आज झाड़ों ओर कन्दीलों से रोशन था। फर्श पर इरानी कालीन बिछे थे। दीवारों पर दबीज मखमली परदे, बाहर संगमर्मर के बुत सी खड़ी हसीन बाँदियाँ हुक्म के इन्तजार में, उस बिल्लौरीकॉच से जगमग महल के एक सजे कमरे में दो शमाओं सी दाहिर-पुत्रियां सूर्या ओर प्रमिला का रूप रोशन था। खिलते खुशबूदार मोतिये की मालायें महक रही थीं। उनसे मोती-मालायें गुथी थीं। खलीफा ने वहाँ आते ही बाँदियों से प्रमिला को ले जाने का हुक्म दिया। वह पहले सूर्या के विकसते सुरभित सौन्दर्य से शैया सुरभित करना चाहता था। निश्चल सूर्या कुछ सोचती, बुत बनी बैठी थीं। खलीफा ने मुस्कुराकर कहा - मेरे करीब आओ सूरिया! मैं हुस्न-परस्त हूँ। तुम्हें सिन्ध के रेतीले मैदानों के बुतकदे से मँगवाया। तुम्हारी जगह तो मेरे दिल में है। इस महल में है। तुम यहां मलिका बन हुक्म चलाओगी। किस खयाल में खोई हो? यहाँ तुम्हें कोई तकलीफ न होगी।'

सूर्या ने विनम्रता से कहा - खलीफा! जन्नत में क्या तकलीफ होगी? मेरा दर्द दूसरा है। मैं बहिश्त में पहुँचने के पहले ही गिर गई। यह मेरी किस्मत में न था। मुझे अफसोस है, मैं आपके लायक न रही। मुझे आपके करीब तक पहुँचने के पहले ही नादुरुस्त - बशुद्ध कर दिया गया। मैं हिन्दू औरत हूँ जो अपने पाक दामन में जिन फूलों की खुशबू ले, अपने दिलवर को मअत्तर करती है, वह अब मेरे पास नहीं। खलीफा! मेरे होने वाले आका! अब यह फूल आपके कदमों पर चढ़ने के काबिल न रहा।'

खलीफा ने कड़क कर कहा - कौन है वह बदकार? जिसने मेरे हरम के हीरे पर अपनी आँख उठाई। सूर्या ने कहा - आप एतबार न करेंगे? उसने मुझे ही नहीं, प्रमिला को भी न छोड़ा। उसकी भी गैर हुर्मती की, हम दोनों हाथ जोड़ती रहीं, कहती रहीं, हम खलीफा की अमानत हैं, हम पर हाथ क्या तुम्हें आँख भी न उठानी चाहिये। पर उसने आपकी खिल्ली उड़ाई। खलीफा ने दीवार से टॅगी शमशीर खींच ली। कोप से कॉपते बोला, 'बस। अब नहीं बर्दाश्त कर पा रहा हूँ। मुझे जल्द उस बद-जात, बद-बख़्त का नाम बताओ उसे चीर डालने के लिये मेरे हाथ बेचैन हो रहे हैं।'

सूर्या ने कहा - आप सुनना ही चाहते हैं, तो गुस्से पर काबू कर, सुन ही लें। उसका नाम भी लेना मैं समझती गुनाह हूँ। पर आप नहीं मानते तो सुनिये। वह है मोहम्मद कासिम, सिन्ध फतह करने वाला मोहम्मद। आपका सिपहसालार। आपका भरोसेमन्द।

खलिफा बिफर पड़ा-सूरिया! तुमने अभी तक मेरा गुस्सा नहीं देखा। मैं उसे एहसान-फरामोशी की ऐसी सजा दूँगा कि सुनने वालों की रुह कॉपेगी। उस बद-दिमाग को कच्ची खाल में सिलवाउंगा। जयों-ज्यों खाल सूखेगी,वह तड़प-तड़प कर, ऐंठ कर उसमें चीखता मरेगा। जाओ तुम दोनों महल में आराम करो।

खलीफा क्रोध में आपा खो चुका था। उसने फौरन मोहर लगे खलीते में हज्जाज को फर्मान भेज दिया। मोहम्मद जीत की खुशी में जश्न मनाता मग्न था। फर्मान सुन, खैर मनाने की नौबत आ गई। हुक्म तो टाला न जा सकता था। शाही फर्मान के आगे वह बेबस था। मोहम्मद को कच्ची खाल में सिलवा कर, खलीफा के पास भिजवा दिया। रास्ते में ही दम घुटने से उसकी मौत हो गई। वह

तड़प कर, चीखता मरा। खलीफा ने दोनों बहनों को बुला कर, खाल खुलवा, अकड़ी लाश दिखाई।

सूर्या बोली, 'खलीफा मैंने जो कहा था, वह अपने पिता का बदला लेने की चाल थी । मरते-मरते कह जाना चाहती हूँ, मोहम्मद ने हम लोगों से कोई बदसलूकी न की थीं।' खलीफा के इशारे पर हब्शी बांदियाँ तलवारें ले झपटीं पर दोनों बहनों ने कंचुकी में छिपाई कटारें अपने सीनों में उतार लीं। खलीफा ने उनके सर काट, घोड़ों की दुमों से बाँध दमिश्क की सड़कों पर घुमाया। फिर जंगली जानवरों का शिकार बनने के लिये शहरपनाह के बाहर फिंकवा दिया। इन दोनों भारतीय ललनाओं ने बुद्धि-बल से, सतीत्व-रक्षा के साथ प्रतिशोध भी ले लिया।

कपूर क्लिनिक, कहारबाड़ी,
भगत सिंह चौक मार्ग, बिट्ठलनगर,
खण्डवा, म.प्र. 450-001

(डॉ. शिवनंदन कपूर का गतवर्ष देहांत हो गया। आप वैचारिकी से बराबर जुड़े रहे, सादर स्मरण। -सम्पादक)।

❑❑

ऊपरवाले को पा लिया

एक मंदिर की छत के ऊपर बहुत सारे कबूतर बैठा करते थे। वे वहां खुश थे। जब मंदिर के वार्षिक उत्सव के उपलक्ष्य में वहां की मरम्मत का कार्य शुरू हुआ तो सभी कबूतर उड़कर पास ही बनी हुई चर्च की छत पर चले गए। वहां पहले से रह रहे कबूतरों ने अपने नए साथियों का स्वागत किया और सब खुशी-खुशी रहने लगे। कुछ दिन बाद क्रिसमस थी, तो चर्च को सजाने की तैयारियां होने लगी। अबकी बार सभी कबूतरों ने पास वाली मस्जिद की छत पर अपना डेरा बना लिया। मस्जिद पर पहले से रह रहे कबूतरों ने भी बड़ी खुशी के साथ नए साथियों का स्वागत किया और सब साथ-साथ रहने लगे। रमजान का समय भी नजदीक आ रहा था मस्जिद को पेंट किया जाना था अबकी बार सारे कबूतर उड़कर मंदिर की छत पर आ गए।

मंदिर के शिखर पर बैठे एक कबूतर के बच्चे ने एक बार देखा कि सड़क पर लड़ाई-झगड़ा हो रहा है और मार-काट मची है। उसने अपनी मां से पूछा कि ये लोग कौन हैं? मां ने कहा, 'मनुष्य'। बच्चे ने पूछा, वे क्यों लड़ रहे हैं? मां ने कहा, जो मंदिर जाते हैं वे हिन्दू हैं, जो चर्च जाते हैं वे ईसाई और मस्जिद जाने वालों को मुसलमान कहते हैं, बस इसलिए झगड़ रहे हैं। बच्चे ने पूछा, ऐसा क्यों? हम जब मंदिर पर बैठते थे, तब भी कबूतर थे, चर्च और मस्जिद पर बैठने के बाद भी सभी हमें कबूतर ही कहते हैं और हम तो कभी भी झगड़े नहीं इसी तरह वे भी चाहे कहीं भी जाएं, उन्हें मनुष्य ही तो कहा जायेगा।

मां ने ऊपर की ओर देखते हुए कहा मैंने, तुमने और हमारे दूसरे साथियों ने ऊपरवाले को पा लिया है, तभी हम इतने पवित्र स्थलों की ऊंचाई पर शांति से रह रहे हैं। अभी इन लोगों को उसे पाना बाकी है। तभी वे इस तरह एक-दूसरे से लड़ रहे हैं।

पातकी सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी

प्रो. अभिराज राजेन्द्र मिश्र

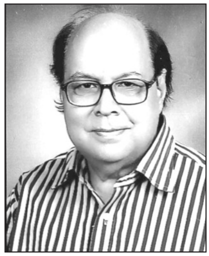

मुस्लिम शासनकाल भारत में कुतुबुद्दीन ऐबक (1206-1210 ई.) से प्रारम्भ होकर यथाकिञ्चित बहादुर शाह जफर (1857 ई.) तक प्रायः साढे छ सौ वर्षों तक रहा। इस लम्बे अन्तराल में मुस्लिम शासकों की भूमिका मुख्यतः दो प्रकार की रही-असमञ्जस तथा समञ्जस (unsympathetic and Sympathetic)। मुगलों से पूर्व तक के मुस्लिम शासक प्रायः स्वयं को आक्रान्ता, विजेता, इस्लाम धर्म का प्रतिनिधि एवं हिन्दूविरोधी मानते रहे। उसी मानसिकता में उन्होंने हिन्दू जनता तथा उनके धर्म-संस्कृति के प्रति लोमहर्षक नृशंस अत्याचार किये। मन्दिरों का विध्वंस, जजियाकर (मुसलमान न होने का दण्डकर), हिन्दू महिलाओं का अपहरण शीलभंग तथा जबर्दस्ती धर्म परिवर्तन - यही व्यवहार था गुलामवंशी, खिलजियों, तुगलकों तथा लोदियों का। इनमें कुछेक थोडे विनम्र एवं उदार भी थे।

मुगल बादशाह बाबर के पौत्र और हुमायूं के पुत्र शहंशाह अकबर (1556-1607 ई.) के साथ एक नया युग प्रारंभ हुआ। वह युग था स्वयं को विदेशी अथवा आक्रान्ता न मान कर, हिन्दुओं के ही समान हिन्दुस्तानी (भारतीय) मानना, हिन्दू मुस्लिम एकता को बढ़ावा देना तथा हिन्दू धर्म एवं धर्म के प्रति सहिष्णु होना। गो कि समञ्जसता के इस वातावरण में भी आलमगीर औरंगजेब जैसे कुछेक नृशंस धर्मान्ध हिन्दू विरोधी बादशाह हुए। परन्तु उनका समय झन्झावात की तरह आया एवं चला गया। फिर भी मानना पड़ेगा कि इस अभागे राष्ट्र ने अपनी राजनैतिक असहयोगिता तथा संकुचित शासकीय मनोवृत्ति के कारण आत्मविध्वंस का जैसा हृदयविदारक शूल सहा वह अवर्णनीय है। विध्वंसक इस्लाम के पदार्पण मात्र से इस शांति प्रेमी, विश्वबन्धुत्व पक्षधर, सर्वधर्म समादरशील राष्ट्र की विश्वगुरुता तो समाप्त ही हो गई, इसका मूल स्वरूप ही नष्ट हो गया। मुस्लिम शासन के बाद भी दुर्भाग्य की जो कोरकसर बाकी थी वह अंग्रेजों ने पूरी कर दी। 1757 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने राज्य स्थापित कर लिया। अंग्रेजों के अत्याचार का अपना एक पृथक इतिहास है। इस प्रकार साकल्येन देखा जाय तो 1159 ईस्वी (सम्राट पृथ्वीराज की पराजय) से लेकर 15 अगस्त 1947 ई. तक - लगभग आठ सौ वर्षों की गुलामी, वैदेशिक प्रभुसत्ता का शूल इस पवित्र देश ने सहा। इतनी लम्बी दासता के ही कारण भारत की मूल संस्कृति, मूल धर्म तथा मूल चरित्र ही नष्ट हो गया। आज का भारत वह भारत है ही नहीं जो वह वैदिक, पौराणिक तथा रामायण-महाभारत काल में था।

मुस्लिम शासकों में सर्वाधिक क्रूर, नृशंस, हृदयहीन, हिन्दूधर्मविरोधी, मूर्तिभञ्जक, मन्दिर विध्वंसक तथा आततायी चार व्यक्ति रहे हैं -

1. शम्शुद्दीन इल्तुतमिश (1211-1236),
2. अलाउद्दीन खिलजी (1296-1313),

3. फीरोजशाह तुगलक (1351-1388),

4. औरंगजेब आलमगीर (1658-1707)।

इल्तुतमिश ने ग्वालियर, बुन्देलखण्ड, मालवा के लगभग सारे मन्दिरों को विध्वस्त किया। वह कट्टर सुन्नी मुसलमान था । यद्यपि पं. ईश्वरी प्रसाद, मिनहाजुस्सिराज (जिसको इल्तुतमिश ने दिल्ली में प्रधान काजी बनाया था), सर कल्जे हेग, लेनपूल, डॉ. आर. सी. मजूमदार आदि इतिहासकारों ने उसके अन्य गुणों की प्रशंसा की है। कुछेक ने तो ऐबक की बजाय उसी को भारत में तुर्क राज्य का संस्थापक माना है। सबने उसकी धार्मिक कट्टरता की बात भी कही है। उसने हिन्दुओं के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। यहाँ तक कि वह शिया मुसलमानों के प्रति भी असहिष्णु ही था।

फीरोजशाह तुगलक भी कट्टर मुसलमान था। उसने पुरी के जगन्नाथ-मन्दिर को विध्वस्त किया तथा मूर्तियाँ समुद्र में फेंक दीं। हिन्दुओं के प्रसिद्ध तीर्थ नगरकोट को भी उसने नष्ट भ्रष्ट किया। इतिहासकार शम्से शिराज अफीफ ने तो स्पष्टतः लिखा है कि फीरोज हिन्दू जनता को इस्लाम स्वीकार करने के लिये लालच भी देता था, बाध्य भी करता था। उसने ब्राह्मणों पर भी जजिया (मुसलमान न होने का दण्डकर) लगाया, जो तत्व तक इससे सर्वथा मुक्त थे। इस प्रकार, अन्य गुणों के बावजूद, फीरोज में धार्मिक कट्टरता भी थी।

कठमुल्लों को और साम्यवादियों चिढ़ है, इस बात से कि हम आठ सौ वर्षों की गुलामी का उल्लेख क्यों करते हैं। उनकी सोच है कि मात्र अंग्रेजों का शासनकाल ही भारत की दासता का काल है, मुसलमान तो भारत के मूलनिवासी हैं। वे यह नहीं सोच पाते कि मूलनिवासी गृहविध्वंस नहीं करते।

आलमगीर औरंगजेब का क्या कहना? राज्य पाने के लिये क्या-क्या पाप उसने नहीं किये। पराजित, निरीह, लोक प्रिय, महाविद्वान बड़े भाई दारा का वध, उस स्थिति में जब भूखा-प्यासा यह शहजादा हुमायूँ के मकबरे में मसूर की दाल पका रहा था। औरंगजेब ने अपने फकीर बनने का नाटक कर जिस छोटे भाई मुराद को दारा के विरूद्ध अपने साथ मिलाया उसी को ग्वालियर के किले में अफीम पिला-पिला कर मारा। बाप, शहंशाह शाहजहाँ को आगरे के किले में छह साल तक कैद में रखा। मराठा वीर शिवाजी को मन्सबदारी देने के बहाने, मिर्जाराजा जयसिंह के माध्यम से दरबार में बुलवाया और जब वह राजा जयसिंह के आदरवश आ गए तो उन्हें बन्दी बना लिया। उसकी तरह का ढोंगी, पाखण्डी तथा खुदगर्ज व्यक्ति होना असंभव है। परन्तु हमारे मुस्लिम बन्धुओं की दृष्टि में उस जैसा उत्कृष्ट शहंशाह मुगल वंश में कोई हुआ ही नहीं! वह मात्र मिर्जा राजा जयसिंह की शक्ति से डरता था। उनके जीते जी चाह कर भी वृन्दावन का गोविन्द देव मन्दिर विध्वस्त नहीं करा पाया। परन्तु इतिहास साक्षी है कि राजा जयसिंह की मृत्यु के ठीक अगले दिन उसने सौ हिन्दू मन्दिरों को एक ही साथ धराशायी करा दिया।

इल्तुतमिश, फीरोज तथा औरंगजेब तीनों ही कट्टर सुन्नी थे, तीनों हिन्दुओं के प्रति परमार्थतः असहिष्णु थे तथा उन्होंने हिन्दुओं के साथ निरन्तर नृशंस व्यवहार किया। परन्तु अलाउद्दीन खिलजी की नृशंसता कुछ और ही प्रकार की थी। वह इन तीनों से बीस ही था, हिन्दुओं के साथ अत्याचार करने में। उसके इन अत्याचारों में सहायक थे उसके दो भाई उलूग खाँ तथा नसरत खान, उसका बेटा खिज्र खाँ तथा उसका सेवक खोजा मलिक काफूर, जिसे वह खम्मात से ले आया था। अलाउद्दीन के विषय में साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ महापात्र ने एक ऐतिहासिक उदाहरण श्लोक उद्धृत किया है जो शत प्रति शत सत्य है- सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणसङ्कटम्। अलावदीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः। अर्थात सन्धि करो तो सर्वस्व का हरण, वैर मोल लो तो प्राणों का संकट! अलाउद्दीन के साथ सन्धि और वैर- दोनों घातक हैं। हिन्दुओं के प्रति उसका अत्याचार यदि उक्त तीनों सुल्तानों से अधिक भी था तो भी आश्चर्य नहीं। क्योंकि इस्लाम की शिक्षा ही यही है कि इस्लामेतर मनुष्य काफिर हैं और काफिरों के वध से जन्नत के द्वार खुले मिलते हैं।

अलाउद्दीन को इल्तुतमिश, फिरोज, औरंगजेब आदि से पृथक करने वाला तथ्य है उसका कामलम्पट तथा भोगविलास का कीट होना। यह दुर्गुण अन्य नृशंस सुल्तानों में नहीं था। अलाउद्दीन ने रणथम्भौर संघर्ष में, सन्धि की शर्तो में, राव हम्मीर से उसकी पुत्री देवलदेवी का हाथ माँगा और चित्तौड़ के राणा रत्नसिंह के साथ हुए संघर्ष में भी, अनिंद्य सुन्दरी महारानी पद्मिनी को सौंपने की शर्त रखी।

उसने गुजरात के चालुक्य - नरेश कर्ण की पत्नी कमलादेवी को भी उस समय, बीच रास्ते से छीन लिया, जब वह गुजरात छोड़ कर देवगिरि जा रहा था, राजा रामचन्द्रदेव के पास शरण लेने। उसकी इसी कामलोलुपता के कारण रणथम्भौर तथा चित्तौड़ के दुर्गों में लोमहर्षक जौहर की घटनाएँ घटीं जिसमें हजारों क्षत्रिय रमणियों ने धधकती आग में कूद कर आत्मदाह किया। चितौड़ दुर्ग के जौहर में तो मात्र क्षत्राणियाँ ही नहीं प्रत्युक्त अन्य जातियों की, दुर्ग में रहने वाली रमणियों ने भी आत्मोत्सर्ग किया, ऐसा प्रमाणित है।

वस्तुतः अलाउद्दीन के इस पातकी जीवन का प्रारम्भ उसकी युवावस्था में ही हो गया। इस विश्वासघाती ने अपने सगे चाचा तथा श्वसुर (पत्नी के पिता) सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी को जिस तरह धोखे से मारा, वह अचिन्तनीय है। एक प्रसिद्ध इतिहासकार ने इसे इतिहास की निकृष्टतम हत्या माना है (one of the basest murder in History was accomplished- Hane poole)।

अलाउद्दीन खिलजी, सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी के भाई शिहाबुद्दीन मसरूद खिलजी का ज्येष्ठ पुत्र था। उसका जन्म सन 1266 ई. में हुआ था। जलालुद्दीन स्वयं 70 वर्ष की अवस्था में सन 1290 ई. में सुल्तान बन पाया था। उस समय अलाउद्दीन की अवस्था चौबीस वर्ष थी। संभवतः उसके पिता की मृत्यु, जलालुद्दीन के सुल्तान होने से बहुत पूर्व ही हो गई थी। फलतः अलाउद्दीन तथा उसके भाइयों का पालन पोषण उसके इस चाचा के ही संरक्षण में हुआ। वह कुल मिला कर निरक्षर था परन्तु युवावस्था में उसने घुड़सवारी तथा युद्धकौशल का अच्छा अभ्यास किया। गुलामवंश के अन्तिम शासक केकुबाद (1287-90 ई.) का वध कराने में वह अपने चाचा का परम सहयोगी रहा। उसके इन्हीं गुणों से प्रभावित होकर उसने अपनी बेटी का विवाह अलाउद्दीन के साथ कर दिया तथा उसे अमीर तुजुक (Master of Caremonies) बना दिया। उसकी सैन्य प्रतिभा के कारण सुल्तान जलालुद्दीन ने शीघ्र ही उसे कड़े सूबे की सूबेदारी भी सौंप दी। सुल्तान का दामाद तथा कड़ा का सूबेदार बनते ही अलाउद्दीन की आकांक्षाओं को पर लग गए। उसने अपने समर्थकों की संख्या में प्रभूत वृद्धि कर ली थी, जो उसे निरन्तर उकसा रहे थे। परन्तु जैसा कि इतिहासकार डॉ. आशीर्वादी लाल ने लिखा है कि वह प्रहार करने के लिये उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करता रहता था।

सन 1292 ई. में उसने सुल्तान से मालवा पर आक्रमण की अनुमति प्राप्त कर ली। बड़ी सरलता से उसने मालवा की राजधानी भिलसा (विदिशा) पर अधिकार कर लिया। राजा नगर छोड़ कर भाग गया अतः लूट की अपार सम्पदा अलाउद्दीन के हाथ लगी जो उसने सुल्तान को भेंट की। इस सामरिक विजय से प्रभावित सुल्तान ने उसे अवध का भी सूबेदार बना दिया तथा उसे अमीरे मुमालिक (Minister of War) नियुक्त कर दिया। भिलसा-अभियान में ही अलाउद्दीन ने देवगिरि के वैभव समृद्धि की कथा सुनी थी। फलतः सुल्तान से अनुमति लेकर उसने 1294 ई. में, अपने मित्र अलाउल्मुल्क को अपने सूबे कड़े की देखरेख हेतु नियुक्त कर दक्षिणविजय के लिये प्रस्थान किया। संयोगवश उस समय देवगिरि का राजा रामचन्द्रदेव सर्वथा असहाय था, बेटे शंकरदेव की तीर्थयात्रा के कारण। फलतः उसने अलाउद्दीन से सन्धि कर ली, अपार सम्पत्ति देकर। परन्तु तभी शंकरदेव देवगिरि आ पहुंचा तथा पिता के मना करने पर भी उसने दिल्ली की ओर जाती अलाउद्दीन की सेना पर आक्रमण कर दिया। परन्तु दैव प्रतिकूल था। शंकरदेव बुरी तरह हारा तथा उसे दुबारा सन्धि करनी पड़ी, कठोर शर्तों पर। इस सन्धि के फलस्वरूप अलाउद्दीन को 27250 पौण्ड सोना, 28250 पौण्ड चांदी, 1000 रेशम के थान, 200 पौण्ड मोती तथा 58 पौण्ड अन्यान्य रत्न मिले।

देवगिरि की इस विजय ने उसे मदान्ध बना दिया और अब वह सुल्तान बनने के लिये अधीर हो गया। इतिहासकार जियाउद्दीन बर्नी इसका श्रेय उसे उकसाने वाले स्वार्थी मित्रों को देता है। घरेलू परिस्थितियाँ उसके पक्ष में नहीं थी। पत्नी तथा सास से उसके सम्बन्ध ठीक नहीं थे। देवगिरि की लूट की अपार सम्पत्ति लेकर वह सीधे अपने सूबे कड़ा आया। इससे सुल्तान उसके प्रति नाराज हुआ। परन्तु अपने कूट पत्रों द्वारा उसने श्रद्धा, भक्ति, क्षमायाचना तथा छल-छद्म की ऐसी वर्षा की कि जलालुद्दीन स्वयं उसके अभिनन्दनार्थ कड़ा के लिए चल पड़ा। यह कूटपत्र धार्मिक रंग में रंगा था। उसके भाई अल्पस बेग को लिखा गया यह पत्र जब सुल्तान को सुनाया गया तो वह अलाउद्दीन के प्रति सहज हो गया। उसके समर्थकों ने उसे बहुत सचेत किया परन्तु

काल उसके सिर पर मंडरा रहा था। इधर अलाउद्दीन सुल्तान के वध की योजना में लीन हो गया।

यथावसर विशाल नाव पर बैठ सुल्तान कड़ा आया। परन्तु तब भी अलाउद्दीन उससे नहीं मिला। हत्या के षड्यंत्र में शामिल, अलाउद्दीन का एक मित्र आया यह बताने कि हुजूर! अलाउद्दीन स्वयं को अपराधी मानता है अतः भयभीत है कि कहीं उसे बन्दी न बना लिया जाय। अतः वह तभी आपसे मिलेगा जब आप अपनी नाव पर अकेले रहें।

इस विनम्रता तथा भय के ढोंग ने बूढ़े सुल्तान को और पिघला दिया। फलतः वह नावों पर बैठे सैकड़ों सैनिकों को पीछे छोड़, मात्र दो-एक अंगरक्षकों के साथ गंगा में आगे बढा। अलाउद्दीन भी अपने विश्वस्त षड्यंत्रकारी सिपहसालारों के साथ आगे बढ़ा। जैसे ही सुलतान ने लपक कर उसे गले लगाया वैसे ही एक सैनिक मोहम्मद कलीम ने उसकी गर्दन पर खड्ग-प्रहार किया। परन्तु सुल्तान बच कर भागा, तभी एक दूसरे सैनिक ने उसका सिर धड़ से अलग कर दिया।

इस नृशंस घटना से खलबली मच गई। खबर सुनते ही सुल्तान की नावें आगे बढ़ीं परन्तु तब तक सुल्तान के सिर को भाले की नोक पर लहराते अलाउद्दीन ने स्वयं को सुल्तान घोषित कर दिया तथा सुल्तान के सैनिकों को भारी भरकम पुरस्कार देकर अपने पक्ष में कर लिया। अब वह दिल्ली की ओर बढा।

इधर दिल्ली में सुल्तान की विधवा मलिका-ए-जहाँ ने अपने द्वितीय पुत्र कदुखाँ को रुकुनुद्दीन इब्राहीम के नाम से सिंहासन पर बैठा दिया। सुल्तान का बड़ा बेटा अर्कली खाँ मुल्तान में था। माँ के बुलावे पर भी वह प्राणभयवश दिल्ली नहीं आया। तब तक अलाउद्दीन विशाल सेना के साथ दिल्ली के समीप आ पहुंचा। रुकुनुद्दीन ने सुल्तान -समर्थक सेना के साथ सामना तो किया किन्तु हार गया और अपनी माँ के साथ मुल्तान भाग गया। अब सब कुछ निष्कण्टक ही था। 3 अक्टूबर 1296 ई. के दिन गुलामवंश के सुल्तान बलबन (1265-1287 ई.) द्वारा निर्मित लाल किले में सुल्तान अलाउद्दीन की विधिवत ताजपोशी हुई।

मृत सुल्तान जलालुद्दीन के अमीर (सामंत) अलाउद्दीन को पापी अपराधी तथा विश्वासघाती मानते तथा उससे घोर घृणा करते थे। उनके दमनार्थ सुल्तान अलाउद्दीन ने नसरत खाँ को लगाया। उनकी जागीरें छीन ली गई। बहुतों का वध कर दिया गया तथा सैकडों को अन्धा बना दिया गया। अपने भाई उलूग खाँ के नेतृत्व में एक सेना मुल्तान भेजी अलाउद्दीन ने। प्राणभय से दिल्ली से मुल्तान चले गये सुल्तान जलालुद्दीन के पुत्र अर्कली खाँ रुकुनुद्दीन का वध कर दिया गया तथा मलिका-ए-जहाँ को बन्दीगृह में डाल दिया गया। सुल्तान अलाउद्दीन ने सर्वत्र आतंक एवं भय का वातावरण स्थापित कर दिया। यहाँ तक कि लोग प्रत्यक्ष वातार्लाप से कतराने लगे तथा मात्र संकेतों से बात करने लगे[1]।

हिन्दुओं की स्थिति तो पशुओं से भी बदतर हो उठी, विशेषतः उच्चवर्गीय हिन्दुओं को, जिन्हें अभी तक आदर प्राप्त था[2]। अपना दबदबा बनाने के लिये अलाउद्दीन ने भय तथा आतंक का आश्रय लिया। उसके विचारों को जियाउद्दीन इतिहासकार बर्नी ने इस प्रकार प्रकट किया है- यद्यपि मैंने किसी विज्ञान अथवा धार्मिक ग्रंथ का अध्ययन नहीं किया है, फिर भी मैं एक मुसलमान हूँ, मुसलमानों के बीच फला फूला हूँ। मैं जनता तथा सल्तनत के लिये ऐसे आदेश जारी करता हूँ जिनको मैं जनता के लिये उपयोगी समझता हूँ। मैं नहीं जानता कि मेरे ये आदेश धर्मसम्मत हैं अथवा नहीं। सल्तनत के लिये प्रस्तुत समस्याओं के निराकरण के लिये जो मैं उचित समझता हूँ वही आदेश देता हूँ और न्याय के विषय में (कयामत के दिन) मेरे साथ क्या व्यवहार होगा, यह मैं नहीं जानता हूँ।

बर्नी लिखता है कि अपनी मूर्खता, मदान्धता तथा अज्ञान के कारण वह उत्तरोत्तर स्वेच्छाचारी, निरंकुश तथा पतित बनता चला गया। वह सिकन्दर जैसी विश्वविजय का सपना तक देखने लगा तथा एक नया धर्म चलाने के लिये, अपनी तुलना पैगम्बर मोहम्मद साहब[3] से करने लगा। परन्तु उसके अभिन्न मित्र अलाउलमुल्क ने उसे समझाने का साहस किया और बताया कि धर्म का निर्माण मनुष्य नहीं करते वह तो परमेश्वर की प्रेरणा से ही पैदा होता है[4]। विश्वविजय के लिये भी अब सिकन्दर जैसा युग नहीं है। पग-पग पर प्रतिरोध है। शत्रुभूत राजा हैं। फिर भी उसके लिये प्रयत्न तो करना ही चाहिये। परन्तु यह तब तक संभव नहीं जब तक आप मदिरापान का व्यसन नहीं छोड़ेंगे।

दिल्ली के कोतवाल अलाउलमुल्क की बातों का अल्लाउद्दीन पर बड़ा प्रभाव पड़ा और वह आकाश से धरती

पर आ गया। उसने शराब पीनी छोड़ दी सदा-सदा के लिये तथा पूरी दिल्ली में शराब बनाने की मनाही कर दी। बर्नी लिखता है कि पियक्कड़ लोग, शराब पीने के लिये तीस चालीस कोस दूर तक जाने लगे। अब उसने अलाउल्मुल्क की एक बात पकड़ ली-समूचे हिन्दुस्तान की विजय। उसे नशा सवार हो गया नये राज्य जीतने का। उसने 1299 ई. में रणथम्भौर, 1303 ई. में चित्तौड़, 1305 ई. में मालवा-माण्डू- उज्जैनधार-चन्देरी, 1308 ई. में मारवाड़ (सिवाना दुर्ग. सीतल देव), 1311 ई. में जालौर, 1306-7 में देवगिरि, 1308 ई. में तेलंगाना, 1310 ई. में द्वारसमुद्र, 1313 ई. में पुनः देवगिरि तथा पाण्ड्य-राजधानी मदुरै को विध्वस्त किया अथवा भारी-भरकम क्षतिपूर्ति लेकर सन्धि की। इन सारे आक्रमणों में रणथम्भौर तथा चित्तौड़ के आक्रमण उसके माथे पर अमिट कलंक के समान हैं। क्योंकि इन दोनों ही युद्धों में उसकी कामलिप्सा ही प्रधान थी। रणथम्भोर के राव हम्मीर से उसने सन्धि की शर्त के रूप में राजकन्या देवल देवी का हाथ माँगा। पिता के साम्राज्य की रक्षा के लिये बेचारी देवलदेवी तैयार भी हो गई आत्मोत्सर्ग के लिये, परंतु स्वाभिमानी नरेश ने ही अमान्य कर दिया। महाकवि नमचन्द्र सूरि ने हम्मीरकाव्यम् में इस प्रसंग का अत्यन्त करुण एवं हृदयविदारक वर्णन किया है। पाठक का खून खौलने लगता है, मात्र उस प्रसंग को पढ़ कर। परन्तु जब यह घटना सचमुच घटी होगी तब इसका रूप कितना भयावह अपमानजनक तथा वैवश्यपूर्ण रहा होगा? मात्र कल्पना की जा सकती है।

चित्तौड़ की महारानी पद्मिनी के प्रति भी कामलम्पट की घृणित कामलिप्सा किसी भी सहृदय को उद्विग्न बना देती है। इन दोनों ही आक्रमणों में स्वाभिमानिनी क्षत्राणियों ने अपना सतीत्व बचाने के लिये धधकती आग में कूद कर आत्मदाह कर लिया, हजारों की संख्या में। परन्तु इन लोमहर्षक हत्याओं को देख कर भी कामकुक्कुट पातकी आलाउद्दीन की न मनोवृत्ति बदली, न हीं पश्चात्ताप हुआ।

गुजरात-आक्रमण में भी लम्पट अलाउद्दीन की दृष्टि सुन्दरी राजकन्या देवल पर थी। गुजरात नरेश कर्ण सोलंकी अलाउद्दीन के भय से राजधानी छोड़ दक्षिण की ओर भाग गया। सुल्तान ने उसकी सुन्दर पटरानी कमलादेवी को भोग्या बना लिया। कुछ दिनों बाद उसने उसकी पुत्री देवल को भी एलोरा के मन्दिर से पकड़वा लिया, उसको पुत्र खिज्र खां को सौंप दिया। जब सेनापति काफूर ने, सुल्तान के मरते ही, खिज्र को ग्वालियर के किले में बन्द कर अन्धा बना दिया तब काफूर का बधकर खिज्र के भाई मुबारक ने देवल को भोगा। भाई मुबारक को भी मार कर खुसरो खां ने तथा उसे मार कर गाजी मलिक खां ने उसे भोगा। देवल का विवाह देवगिरि के कुमार शंकरदेव से होना तय था, परन्तु इन आतताइयों ने उसे वेश्या बना कर ही दम लिया!

अन्ततः 2 जनवरी 1316 ई. के दिन अनेक दुर्भाग्य (सेनापति मलिक काफूर द्वारा उसके बड़े बेटे को अंधा बनाकर ग्वालियर के किले में बन्दी बनाना, गुजरात में आसफ खां का विद्रोह, अनेक राजपूत राजाओं द्वारा अपनी स्वतंत्रता की घोषणा इत्यादि) देखने-सुनने के बाद एक निराश एवं कुंठित नरपशु की तरह, पातकी अलाउद्दीन की मृत्यु हो गई। वस्तुतः महमूद गजनवी, औरंगजेब तथा अलाउद्दीन का करुण अन्त प्रायः एक ही शैली में हुआ।

प्रायः सभी इतिहासकारों ने उसे घोर अत्याचारी, जिद्दी महत्त्वाकांक्षी, नृशंस तथा मूढ़ बताया है परन्तु साथ ही साथ उसे भाग्य का धनी भी बताया है। उसके प्रत्येक दुष्कार्य में उसे अद्भुत सफलता मिली। उसके वास्तविक चरित्र का सार-संक्षेप जियाउद्दीन बर्नी लिखता है- All this prosperity intoxicated him. Vast desires and great aims for beyond hum, formed their germs in his brain and he entertained fancies which had never occured to anything before him. In his exaltation ignorance and folly, he quite lost his head, forming the most impossible schemes and nourishing the most extravagant desires. He was bad tempered, obstinate and heard hearted. But the world smiled upon him, fortune befriended him and his schemes were generally successful, so he only became more richless and arroggaut.

(पूर्व कुलपति)

सनराइज विला (सीनियर सेकेण्डरी स्कूल के पास)

लोअर समर हिल्स, शिमला (हि.प्र.)-171005

मो. 9418176968/9418041537

❑❑

बादशाह अकबर का अजेय सिपहसालार : राजा मानसिंह

डॉ. आनन्द शर्मा

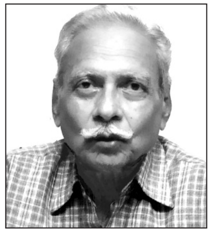

14 नवम्बर, सन 1589 को आम्बेर की गद्दी पर बैठे राजा मानसिंह ने अपने जीवन में बादशाह अकबर के लिए लड़े सभी 77 युद्धों में विजय प्राप्त की। ये सभी युद्ध प्रचण्ड और विपरीत परिस्थितियों में लड़े गये थे। फिर रणभूमि चाहे तपती हुई हल्दीघाटी हो या नदियों की बाधाओं से भरी बंगाल-बिहार की सरसब्ज जमीन या फिर गुजरात और दक्षिण भारत का अज्ञात क्षेत्र। काबुल (अफगानिस्तान) की दुर्गम पर्वतों से घिरी अनजान धरती भी उसकी विजय यात्रा में बाधक नहीं बन पाई थी। अफगानिस्तान के पाँचों शक्तिशाली विद्रोही कबीलों को परास्त करके, उनके झण्डों को मिला कर बनाया आम्बेर का पंचरंगी ध्वज उन असम्भव विजयों का गौरव प्रतीक बना हुआ है। युद्धों में निरन्तर असम्भव विजय प्राप्त करते रहने के कारण ही वे मुगल साम्राज्य के प्रमुख स्तम्भ और बादशाह अकबर के परम विश्वस्त सेनापति बन गये थे। उनकी गणना अकबर के नवरत्नों में होती थी।

21 दिसम्बर, सन 1550 को राजा भगवन्तदास की पटरानी भागवती पंवार के गर्भ से जन्मे मोटे-बेडौल और काले रंग के मानसिंह का बचपन आम्बेर से दूर मोजमाबाद में व्यतीत हुआ था। शस्त्र विद्या के साथ हिन्दी, संस्कृत, फारसी आदि में निपुणता के साथ सन 1562 में वे आम्बेर लौटे। अपनी बुआ हीराकंवर के अकबर से हुए विवाह के कारण मुगल बादशाह से रिश्तेदारी स्वाभाविक रूप से बन गई थी। अकबर ने बारह वर्षीय किशोर मानसिंह को आगरा में शाही सेवा में रख उसके प्रशिक्षण की विशेष व्यवस्था की। परिणामस्वरूप सात वर्ष बाद ही सन 1569 के रणथम्भोर युद्ध में अपनी प्रतिभा का परिचय देने के बाद, सन 1572 के गुजरात अभियान में बादशाह की प्राणरक्षा करके, अपने शौर्य का प्रमाण दे दिया। इस शौर्य का पुरस्कार राजा भगवन्तदास और कुँवर मानसिंह को नक्कारा-निशान जैसे दुर्लभ सम्मान के रूप में मिला। अब वे आगरा तक में नगाड़ा बजाते हुए प्रवेश के अधिकारी बन गये थे।

बाईस वर्षीय मानसिंह की अकबर से निकटता का प्रमाण यही है कि वे उनकी मद्य-गोष्ठियों में भी सम्मिलित होते थे। एक बार वीरता की बात चलने पर नशे में धुत अकबर ने दीवार से तलवार की मूंठ लगा कर नोक अपने सीने के लगाकर उसे मोड़ने का घातक प्रयास किया। इससे पहले कि तलवार अकबर का सीना चीर जाती, मानसिंह ने महाबली के कोप की परवाह किये बगैर तलवार को झटक कर अकबर की प्राणरक्षा की। इस दुःसाहस पर अकबर ने मानसिंह को जमीन पर गिरा कर, गला घोटने की कोशिश की। किन्तु सैयद मुजफ्फर ने किसी तरह हस्तक्षेप करके बचा लिया। अगले दिन नशा उतरने पर अकबर ने अपनी प्राणरक्षा के लिए कुँवर मानसिंह का आभार व्यक्त किया था.।

मानसिंह अकबर के सर्वाधिक विश्वस्त और सक्षम सेनानायक थे। उसके आदेश पर सन 1573 में डूंगरपुर विजय के बाद बिहार के हाजीपुर युद्ध में विद्रोही दाऊद खां पठान का दमन

किया। मेवाड़ महाराणा प्रताप के साथ संधि-वार्ता के लिए भेजे गये मानसिंह उनके उत्कट स्वाधीनता प्रेम के कारण सफल नहीं हुए, अनेक संधि-वार्ताओं के निष्फल हो जाने के बाद, सन 1576 में अकबर ने फर्जन्द-ए-दौलत खिताब के साथ मानसिंह को मेवाड़ अभियान का सेनापति नियुक्त किया। सुप्रसिद्ध हल्दीघाटी युद्ध में महाराणा को परास्त करने के बाद भी, मानसिंह ने न तो पीछा करके उनका वध करने का प्रयास किया और न ही मेवाड़ को लूटने की अनुमति दी। जबकि सात घावों से क्षत-विक्षत और घायल चेतक पर सवार अकेले प्रताप का पीछा करके उन्हें मारना बहुत आसान था। इन अवसरों को गँवा देने और प्रताप को दुर्गम पहाड़ों की सुरक्षा सुविधा में चले जाने का अवसर प्रदान करने से क्रुद्ध अकबर ने मानसिंह को दरबार में उपस्थित न होने का दण्ड दिया था। किन्तु युवक मानसिंह को अपने किये पर कोई पछतावा की जगह स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत एक राजपूत शक्ति को बचा लेने का आत्मसंतोष था।

हल्दीघाटी युद्ध की एक घटना मानसिंह का चरित्र समझने में सहायक हो सकती है। युद्धोन्माद में शाही सेना को चीरते हुए कुँवर मानसिंह के हाथी के सामने पहुँचे राणा प्रताप ने यह देखने का प्रयास भी नहीं किया कि उनकी सेना साथ आ भी रही या नहीं। संकेत पाकर चेतक द्वारा अपने अगले पैर हाथी के मस्तक पर टिकाते ही, प्रताप ने सेनापति मानसिंह को मारने के लिए भाला उठा कर, वार कर दिया। किन्तु महावत के संकेत पर हाथी द्वारा अपनी सूंड में पकड़ी कटार से अपना पिछला पैर कट जाने से चेतक का संतुलन बिगड़ गया। प्रताप का अचूक वार महावत की बलि लेकर ही रह गया। मानसिंह की सुरक्षा कर रहे उनके अपार बलवान भाई माधवसिंह, प्रताप को रोकने के लिए आगे बढ़े। किन्तु मानसिंह के निर्देश के कारण उन्होंने अपने भाले के पिछले भाग पूठ से प्रताप के मुँह पर हलका-सा वार करते हुए कहा कि तुम हिन्दुआना सूरज हो, इस कारण मार नहीं रहा हूँ। अब भाग कर अपनी जान बचाओ और हिन्दुओं की रक्षा करो। इस आशय की उक्ति है - मुख राणा रै मंडिया माधो तणा निसाण।

माधवसिंह द्वारा छोड़ देने के बावजूद घायल और अकेले प्रताप शाही सेना से घिर गये। तब झाला मान ने उनका छत्र-चँवर लेकर प्रताप को युद्धभूमि से निकल जाने का अवसर प्रदान कर दिया। हाथी पर बैठे मानसिंह से अपने एकदम पास की यह घटना कैसे छुप सकती थी? इस पर भी उन्होंने अकेले प्रताप को पकड़ने या मारने का आदेश नहीं दिया। इसलिए अकबर की मानसिंह के प्रति नाराजगी अकारण नहीं थी।

कुछ माह बाद अकबर ने स्वयं मेवाड़ अभियान का नेतृत्व किया। राजा भगवन्तदास और कुँवर मानसिंह भी उनके साथ थे। लेकिन छह माह में मेवाड़ को रौंद देने के बाद भी वह प्रताप की परछाईं तक नहीं छू सका। इसके विपरीत प्रताप के छापामार दस्ते शाही सेना को अपार क्षति पहुँचाते रहे। असफल अकबर ने लौट कर कुछ समय बाद शहबाज खां को भारी सेना के साथ मेवाड़ अभियान पर भेजा। इस बार भी परिणाम वही निकले। अणदागल असवार प्रताप अदृश्य रह कर उसकी सेना को अपार क्षति पहुँचाते हुए, अपने इलाके वापस जीतते रहे। अपनी असफलताओं का कारण जान लेने के बाद शहबाज खां ने अकबर को इन पिता-पुत्र (भगवन्तदास-मानसिंह) के रहते मेवाड़ अभियान सफल न होने का आरोप लगाते हुए, उन्हें बुला लेने के लिए लिखा था। इससे नाराज अकबर ने पिता-पुत्र को सुदूर पंजाब, पेशावर और काबुल भेज दिया।

भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त के लिए जाते समय कोटा के पास खींचीवाड़ा और मालवा के ओंद को जीत कर मानसिंह ने अकबर को प्रसन्न करने के साथ यह संकेत भी दे दिया कि मेवाड़ के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकरणों में वे उसके प्रति पूर्ण निष्ठावान हैं। कुशाग्र बुद्धि अकबर ने भी इस संकेत को समझ कर इन्हें दोबारा मेवाड़ अभियान पर नहीं भेजा। वह समझ गया था कि इन तेजस्वी कछवाहा योद्धाओं की निष्ठायें प्राप्त करने की भी एक सीमा है। उसने मानसिंह का मनसब बढ़ा कर 3500 करने के साथ उन्हें अपने सौतेले भाई मिर्जा हाकिम का विद्रोह दबाने के लिए काबुल जाने का आदेश दे दिया।

असफलता शब्द मानसिंह के शब्दकोष में नहीं था। किन्तु काबुल जाने के लिए पंजाब की अटक नदी पार करने से राजपूत सेना ने इंकार कर दिया। अटक के पार म्लेच्छ राज्य होने के कारण धर्म भ्रष्ट हो जाने की धार्मिक

मान्यता ही इसका कारण थी। इस पर मानसिंह ने उन्हें एक दोहा कहा– *सबै भूमि गोपाल की, यामैं अटक कहा। जाके मन में अटक है, सो ही भटक रहा।।* अर्थात यह सम्पूर्ण भूमि तो गोपाल की है। इसमें अटक नदी की बाधा कहाँ है? जिसके मन में यह अटक संशय है, वह तो भटकता हुआ ही रह जायेगा।

उक्त दोहे के द्वारा उन्होंने राजपूतों का भ्रम निवारण कर, उन्हें अपार उत्साह से ओतप्रोत कर दिया। फिर तो मिर्जा हाकिम के सेनापति सादमान को युद्ध में बुरी तरह परास्त करने के बाद, उन्होंने अफगानिस्तान पर कब्जा कर लिया। अपने पुत्र जगतसिंह को काबुल का शासन सँभला कर वे 7 सितम्बर, 1585 को रावलपिंडी में बादशाह से मिले। वहाँ काबुल की सूबेदारी प्राप्त करके लौटते समय खैबर दर्रे के पास शक्तिशाली रोशनिया और युसूफजई उपद्रवी कबीलों को परास्त करने के बाद, बर्फानी पहाड़ियों और दर्रों में घमासान युद्धों के बाद गोरी आदि कबीलों को भी परास्त किया। उनसे छीने ध्वजों के रंगों को मिला कर उन्होंने आम्बेर का पंचरंगा ध्वज बनाया, जो आज भी असम्भव जैसी अफगानिस्तान विजय का चिर स्थायी प्रतीक बना हुआ है।

इससे पूर्व श्री राम के पुत्र कुश के वंशज कुशवाहा (कछवाहा) होने के कारण आम्बेर का ध्वज सफेद वस्त्र पर चित्रित हरे रंग का कचनार वृक्ष रहता आया था। वाल्मीकि रामायण में श्रीराम के ध्वज का यही विवरण मिलता है- *एषवैमु महान श्रीमान विटपी संप्रकाशते। विराजत्यु ज्ज्वलस्कन्धः कोविदार ध्वजो रथे।।* (वा. रा. 21-96-118)।

इसी कारण आम्बेर के ध्वज और सिक्के में कचनार झाड़ होने के कारण इन्हें झाड़शाही कहा जाता था। चौमूं ठाकुर मनोहरदास द्वारा काबुल विजय की स्मृति में बनाये पंचरंग ध्वज को आम्बेर का राजध्वज बनाये जाने के अनुरोध को स्वीकार करते हुए, विद्वान मानसिंह ने इसकी तात्विक व्याख्या करते हुए कहा कि इस ध्वज से हमारे मूल पुरुष सूर्य भगवान इसमें अवस्थित हो जायेंगे। सूर्य किरणों में सुर्ख, सुनहरे, पीले, हरे, काले और बैंगनी सप्तरंग होने पर भी इन्द्रधनुष में पाँच रंग ही दिखाई देते हैं। सूर्योदय के समय आसमान की रंगत में मोतिया, सुर्ख, सुनहरा, नीला और सफेद रंग ही दिखाई देते हैं। ये पाँच रंग ही गायत्री की तेजोमय ब्रह्मशक्ति है जो हिन्दुओं की प्राणशक्ति है। योगियों ने भी पाँच रंग ही स्वीकार किये हैं। इस कारण हमारे राज्य का ध्वज पंचरंगा होना अभीष्ट है। शेष रहा झाड़ का प्रश्न, तो वह हमारे सिक्कों में यथावत बना रहेगा। मानसिंह ने इन रंगों को क्रमबद्ध करके, सुनहरे के स्थान पर एक कबीले के सफेद रंग को स्थान दिया। आम्बेर का पुराना ध्वज चौमूं को सौंप दिया गया।

काबुल का सूबेदार रहते दूरदर्शी मानसिंह ने तोप, बन्दूक और बारूद निर्माण की तकनीक राजपूतों को उपलब्ध करवाने का अनुपम ऐतिहासिक कार्य भी किया था। मुगल अपनी इस विध्वंसकारी तकनीक को अत्यन्त गोपनीय बनाये रखते थे। युद्ध का सेनापति राजपूत होने पर भी तोपखाना विश्वसनीय मुगलों के अधीन ही होता था। हिन्दू सेनापति उन्हें सिर्फ गोलाबारी का आदेश दे सकता था। तोपखाना में जाने और इसकी तकनीक जानने का अधिकार उसे नहीं था। काबुल का सूबेदार बन जाने से मानसिंह को यह अवसर मिला। उन्होंने अपने कुशल तकनीशियनों की तोपखाना में नियुक्ति करके इसका रहस्य जान लेने के साथ, इसे हजारों मील दूर आम्बेर भेजने में विलम्ब नहीं किया। परिणामस्वरूप मानसिंह के काबुल के सूबेदार पद पर रहते हुए ही, इन तकनीशियनों और काबुल से भिजवाये औजारों की सहायता से आम्बेर के जयगढ़ में अत्यन्त गोपनीयता के साथ तोप, बन्दूक और गोला-बारूद का निर्माण आरम्भ हो गया था। इस तकनीक ने आम्बेर राज्य को शक्तिशाली बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया था।

मानसिंह न्यायप्रिय होने के साथ कठोर प्रशासक भी थे। उनके शासन में विद्रोह के स्वर उठने के साथ ही कुचल दिये जाते थे। अफगानिस्तान में शान्ति स्थापना हो जाने के बाद, अकबर ने उन्हें अशान्त बिहार-उड़ीसा को शान्त करने का दायित्व सौंपा। बिहार का सूबेदार बन कर मानसिंह ने गिधौर के राजा पूर्णमल, खड्गपुर के राजा संग्रामसिंह को परास्त करने के बाद, विद्रोही बंगाल के सुल्तान कलामक और कचेरा पर हमला कर दिया। उड़ीसा के अफगान विद्रोह का दमन करने के लिए सन 1589 में कतलू खाँ लोहानी के पुत्र निसार पर आक्रमण किया। उसने अधीनता स्वीकार करते हुए पुरी का इलाका मानसिंह

को सौंप दिया। परिणामस्वरूप पुरी जैसा पवित्र शहर उद्दण्ड अफगानों से मुक्त हो गया। इन युद्धों में जयगढ़ में निर्मित कड़क बिजली आदि तोपों ने भी भाग लिया था।

मानसिंह ने ये सभी ऐतिहासिक उपलब्धियां कुँवर पद पर रहते हुए अर्जित की थी। 14 नवम्बर, 1589 को लाहौर में अपने पिता भगवन्तदास की मृत्यु का समाचार पाकर मानसिंह आम्बेर लौटे। आम्बेर में शानदार राज्याभिषेक के बाद अकबर ने उन्हें आम्बेर का राजा स्वीकार करते हुए, भगवन्तदास का पंचहजारी मनसब भी मानसिंह को दिया। जयपुर वंशावली में इस अवसर पर बादशाह द्वारा भेजे उपहारों का विस्तृत विवरण मिलता है।

राज्याभिषेक के तत्काल बाद राजा मानसिंह को बिहार लौटना पड़ा। अकबर की इच्छानुरूप उड़ीसा पर पूर्ण अधिकार करने के लिए उन्होंने अफगानों पर पुनः आक्रमण किया। उनका बाईस वर्षीय पुत्र जगतसिंह भी इन अभियानों में साथ था। इससे पूर्व जगतसिंह ने जलेसर, रायपुर, विष्णुपुर आदि पर आक्रमण के द्वारा अफगान शक्ति को कुंठित करके स्वयं को सुयोग्य उत्तराधिकारी होने का प्रमाण दे दिया था। इस बार जलेसर से बारह मील दूर बीजापुर युद्ध में बुरी तरह परास्त हुए अफगानों ने अन्ततः आत्मसमर्पण कर दिया। उड़ीसा के अन्य राजाओं ने तो पहले ही अधीनता स्वीकार कर ली थी। गया के निकट शंभुपुरी के सैयदों को परास्त करके मानसिंह ने वहाँ मानपुर शहर बसाया। अपने तेजस्वी पुत्र जगतसिंह की असमय मृत्यु मानसिंह के लिए भारी आघात था। वे आजीवन इस आघात से उबर नहीं पाये थे। अपने पुत्र की स्मृति में मानसिंह की रानी कनकावती ने आम्बेर में शिल्पकला के अनुपम स्मारक जगत शिरोमणि मन्दिर का निर्माण करवाया।

बंगाल की सूबेदारी के समय मानसिंह ने कूचबिहार के राजा लक्ष्मीनारायण की बहन लक्ष्मीदेवी से विवाह किया। यह बंगाली रानी या कूची रानी नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी रानी से जन्मे पुत्र के धूला ठिकाना ने विद्रोही जाटों के साथ हुए मावड़ा-मंढोली युद्ध में अपनी तीन पीढ़ियों का बलिदान दिया था और इसके बाद ही धूला ठिकाने को अन्य राजपूतों ने शुद्ध राजपूत ठिकाना स्वीकार करके विशेष सम्मान से नवाजा था।

पुराना कलकत्ता और आज का कोलकाता महानगर भी मानसिंह द्वारा दी गई भूमि पर बसा है। लक्ष्मीनाथ गांगुली को दिए पाँच परगनों में कालिकाता भी था, जिस पर सत्रहवीं शती के अन्तिम दशक में चरनाक नामक अंग्रेज ने आज के महानगर को विकसित किया था।

बादशाह अकबर की निष्ठापूर्वक सेवा करने के बावजूद वे मन से पूर्णरूपेण नैष्ठिक हिन्दू थे। तभी तो उन्होंने अकबर द्वारा स्थापित दीन-ए-इलाही धर्म स्वीकार करने से स्पष्ट इंकार करते हुए कहा था कि मुझे अपने हिन्दू धर्म में कोई कमी दिखाई नहीं देती। मैं आपके लिए प्राण दे सकता हूँ, किन्तु धर्म नहीं दूंगा। मानसिंह के महत्व का अनुमान इससे भी हो जाता है कि वे अकबर के नवरत्नों में थे। इन्होंने आम्बेर पर 24 वर्ष राज्य के साथ, 55 वर्षों तक मुगल दरबार की सेवा की थी। उन्हें अकबरी दरबार के हिन्दू राजाओं में प्रथम बार सात हजारी का सर्वोच्च मनसब का सम्मान भी प्राप्त हुआ था।

राजा मानसिंह के शासन काल में आम्बेर राज्य की सीमा तो नहीं, किन्तु उसके वैभव और शक्ति में अपार वृद्धि हुई थी। वे कवि भी थे। उनके अनेक स्फुट छन्द मिलते हैं। आम्बेर में दादूपंथ की स्थापना उनके समय में ही हुई थी और मानचरित्र, मान प्रकाश, मानसिंह कीर्ति मुक्तवली के अतिरिक्त राग चन्द्रोदय, राग मंजरी, नर्तन निर्णय, दूती प्रकाश, पत्र प्रशस्ति, पवन पश्चिम जैसे ग्रंथों की रचना उनके ही काल में हुई थी। अनेक कवि, पण्डित, गुणीजन, कलावन्त आदि उनके राज्याश्रय में रहते थे। संत तुलसीदास के साथ उनके घनिष्ठ सम्बन्ध ही नहीं थे, उन्होंने अपने युवराज पुत्र जगतसिंह को उनके पास अध्ययन करने के लिए भी भेजा था।

मानसिंह द्वारा बनवाये मन्दिरों और बसाये नगरों की संख्या इस नरेश के धार्मिक और स्थापत्य प्रेम की परिचायक भी है। स्थापत्य के क्षेत्र में भी मानसिंह ने भारी उपलब्धियां अर्जित की थी। आम्बेर का जगत शिरोमणि मन्दिर शिल्प कला की अनुपम धरोहर है। आम्बेर में ही शिला देवी की प्रतिष्ठा के अतिरिक्त वृन्दावन में भारी धन व्यय करके गोविन्ददेवजी के भव्य मन्दिर का निर्माण करवाया। इसे ग्राउस ने उत्तर भारत का भव्यतम भवन माना था । बिहार और बंगाल की सूबेदारी के काल में

वैद्यनाथ धाम (देवघर) में मान सरोवर का निर्माण, बिहार के मानभूम परगने में पारा ग्राम में दो और तेलकूपी ग्राम में अनेक मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया। धाड की गैर नामक ग्राम में विशाल देवालय के साथ सात छोटे मन्दिरों और पटना में छोटी और बड़ी पट्टदेवियों के मन्दिर तथा गंगातट पर अपनी माता भागोती देवी के दाहस्थल पर भव्य गौरीशंकर मन्दिर का निर्माण मानसिंह ने ही करवाया था। काशी के दशाश्वमेध घाट पर निर्मित भव्य मान मन्दिर का उल्लेख तो जहांगीर ने अपनी आत्मकथा में भी किया है। कालान्तर में सवाई जयसिंह ने इसी मन्दिर के ऊपर अपनी सुप्रसिद्ध पाँच वेधशालाओं में से एक की स्थापना की थी। बरसाना के पहाड़ पर बनवाया कलात्मक और विशाल राधा मन्दिर आज भी इस नरेश की यशगाथा का जीवन्त स्मारक है।

इसी प्रकार गया में फल्गु नदी के पार बसाये मानपुर में नीलकण्ठ महादेव मन्दिर के साथ सात कुएं और एक सरोवर बनवाये। पुरी के विख्यात जगन्नाथ मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाने के अतिरिक्त, वहाँ मुक्ति मण्डप का निर्माण भी करवाया था। मानसिंह द्वारा करवाये शिल्प कार्यों की लम्बी सूची है। इनमें बंगाल की पुरानी राजधानी राजमहल में जामा मस्जिद, आम्बेर में अकबरी मस्जिद सहित अनेक मस्जिदों का निर्माण और जीर्णोद्धार भी सम्मिलित है। कृष्ण भक्त होने पर भी उन्होंने चण्डी मण्डप और शिवालयों का निर्माण भी करवाया। राजा मानसिंह ऐसे आस्थावान सनातनी हिन्दू थे, जो सभी देवी-देवताओं के प्रति श्रद्धा रखते हुए, अन्य सभी धर्मों के प्रति भी सहिष्णु और उदार थे।

645, किशोर कुंज,
किशनपोल बाजार, जयपुर-302001
मोबाइल : 9462312222 - 8387020912

❐❐

मदद वाले हाथ

'भइया! मेरा यह गट्ठर मेरे सिर पर रख दो', मुम्बई महानगरी की एक सड़क के किनारे एक बुढ़िया लकड़ियों के एक गट्ठर के पास खड़ी उधर से गुजरने वालों से यह निवेदन कर रही थी। किंतु लोग उसकी ओर देखकर आगे बढ़ जाते। कुछ तो मुंह बिचकाते हुए निकलते। शाम तक किसी ने मदद नहीं की। सूर्यास्त हो चुका था, बुढ़िया को जल्दी घर पहुंचने और भोजन बनाकर बच्चों को खिलाने की चिंता भी सता रही थी, अब भी वह मदद की गुहार लगी रही थी। अचानक उसने देखा सामने से पैंट-कोट पहने, टाई लगाए एक सज्जन उसी की तरफ आ रहे हैं। बुढ़िया कातर दृष्टि से उनकी तरफ निहार रही थी। जब वह पास से गुजरने लगे, तब बुढ़िया ने उनसे भी यही निवेदन करना चाहा, किंतु संकोच के कारण उसका उठा हुआ हाथ नीचे आ गया और खुला मुंह बंद हो गया। उन सज्जन को लगा कि बुढ़िया उनसे कुछ कहना चाहती है। वह पीछे मुड़े और बोले, क्या कहना चाहती हो माँ? यह आत्मीय संबोधन सुनकर बुढ़िया की आंखों में आंसू आ गए। वह सज्जन बोले, मां! रोओ नहीं, यदि पैसे की जरूरत हो तो...। फिर उनका हाथ जेब में चला गया। बुढ़िया आंसू पोंछते हुए बोली, 'नहीं बाबू! मुझे पैसे नहीं चाहिए। मैं तो यहां से गुजरने वालों से लकड़ियों का यह गट्ठर अपने सिर पर रखने का निवेदन कर रही थी। किसी ने सहायता नहीं की। आपने मेरे कुछ कहे बिना ही मां कहकर मुझ से पूछा इसलिए आंखों में आंसू आ गए।' उन्होंने लकड़ियों का गट्ठर उठाकर बुढ़िया के सिर पर रख दिया। बुढ़िया ने रुंधे कंठ से कहा, तुम बड़े महान हो बेटा, भगवान तुम्हारा कल्याण करें और वह अपने रास्ते पर चल पड़ी। वह सज्जन थे, मुम्बई उच्च न्यायालय के न्यायाधीश महादेव गोविंद रानाडे।

अभिलेखों के प्रस्तुतीकरण में कायस्थों की भूमिका (प्राचीन राजस्थान के विशेष संदर्भ में)

डॉ. सतीश कुमार त्रिगुणायत ▫ श्रीमती रेखा देवी शर्मा

इतिहास के स्रोत के रूप में अभिलेखों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत में अभिलेखों को उत्कीर्ण करने के लिए प्रायः शिलापट्ट, पाषाणखंड, ईंट, पात्र, धातु तथा अन्य वस्तुएँ उपयोग में लायी जाती थी। प्राचीन भारत में अभिलेखों के अक्षरों को स्याही से किसी अधिक मुलायम वस्तु पर लिखने और किसी कड़े पदार्थ पर उनको उत्कीर्ण करने की प्रथाएँ समान रूप से लोकप्रिय थीं। लेख पहले किसी अल्प स्थायी पदार्थ पर लिखे जाते थे और इसके बाद उन्हें प्रायः प्रस्तरों अथवा ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण कर दिया जाता था।

प्रारम्भ में लेखन से सम्बन्धित कार्य पर ब्राह्मणों का ही एकाधिकार रहा, क्योंकि वे ही कुशल शिक्षक एवं संस्कृत के ज्ञाता थे। धीरे-धीरे समाज के विकास एवं प्रसार तथा व्यवसायों के विभाजन के साथ-साथ लेखन का भी एक व्यवसाय के रूप में विकास हुआ। अतः गैर ब्राह्मण वर्ग के लोगों ने पढ़-लिख कर गणित एवं संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया तथा कई लोगों ने लेखन को व्यवसाय के रूप में अपना लिया। इस प्रकार लेखनी द्वारा आजीविका अर्जन करने वालों को लेखक कहा जाने लगा। लेखक शब्द तथा इसके समानार्थी पद यथा लिख, लेख तथा लेखन इत्यादि शब्दों का उल्लेख रामायण एवं महाभारत में मिलता है।[1] महाकाव्यों में इन शब्दों के उल्लेख से यह विदित होता है कि उस समय लेखन कला एवं लेखन व्यवसाय दोनों ही विद्यमान थे। लेखन व्यवसाय के सम्बन्ध में प्राचीन पालि साहित्य में भी पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होते हैं। विनयपिटक में लेखन की प्रशंसा एक विशिष्ट कला के रूप में की गई है।[2] एक वार्तालाप में माता-पिता अपने पुत्र को आजीविका के लिए लेखन का व्यवसाय चुनने की सलाह देते हुए कहते हैं कि इस व्यवसाय से उसकी जिन्दगी आराम से व्यतीत होगी, यद्यपि इस व्यवसाय से उसकी अंगुलियों को कष्ट होगा।[3]

लेखन व्यसाय के सम्बन्ध में प्राचीनतम अभिलेखीय प्रमाण सांची से प्राप्त एक अभिलेख में हुआ है।[4] यहाँ पर लेखक शब्द दाता के लेखन व्यवसाय को स्पष्ट करता है। बहुसंख्यक परवर्ती अभिलेखों[5] में लेखक का तात्पर्य उस व्यक्ति से था जो ताम्रपत्र या प्रस्तर पत्र पर उत्कीर्ण होने वाले प्रलेख को तैयार करता था। बाद में लेखक शब्द का प्रयोग हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रतिलिपि करने वाले व्यक्ति के लिए होता था। प्रायः श्रद्धालु एवं धर्मनिष्ठ ब्रह्मण तथा यदा-कदा निर्धन वृद्ध कायस्थ इस कार्य में लगाये जाते थे।[6]

लेखक के अतिरिक्त ई.पू. चतुर्थ शताब्दी में लिखने वाले के लिए 'लिपिकर', 'लिविकर' या 'दिपिकर' शब्दों का प्रयोग मिलता है। पाणिनि ने लिपिकर और लिबिकर के समस्त पदों का उल्लेख किया है।[7] अशोक के अभिलेखों में भी इनका उल्लेख प्राप्त होता है। उसके 14वें

शिलालेख8 में इस शब्द का प्रयोग लिपिक पद के लिए किया गया है। उसके 'ब्रह्मगिरि'[9] लघु शिलालेख का लेखक 'चपड' स्वयं को लिपिकर कहता है। सांची से प्राप्त एक अन्य अभिलेख[10] का दाता 'सुबाहित गोपित' स्वयं के 'राजलिपिकर' पद का उल्लेख करता है। संभवतः वह राजा का लेखक रहा होगा।

लेखक, लिपिकर या लिविकर के अतिरिक्त 'दिविर' शब्द भी लिखने वाले के लिए प्रयुक्त होता था। दिविर शब्द का अभिलेखों में सर्वप्रथम उल्लेख महाराज जयनाथ के गुप्त संवत 177 (ई. सन 396 - 97) के खोह ताम्रपत्र[11] में मिलता है। ई. सन् की 7वीं 8वीं शताब्दी के अनेक वलभी अभिलेखों में 'सान्धिविग्रहिक' (युद्ध एवं सन्धि का मंत्री) पर विवरणों का लेख तैयार करने का उत्तरदायित्व था तथा उसे 'दिविरपति' कहा गया है। दिविरपति शब्द से स्पष्ट है कि सान्धिविग्रहिक के अन्तर्गत विवरण तैयार करने वाले अनेक दिविर होते थे।

कायस्थ

व्यवसायी लेखकों के एक निश्चित वर्ग या जाति का निर्देशन करने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द 'कायस्थ' है। इस शब्द का प्रथम उल्लेख याज्ञवल्क्य ने 'लेखक' के रूप में किया।[12] 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में कहा गया है कि 'चाटों (दुष्टों), तस्करों, दुश्चरित्रों, लुटेरों और विशेषकर कायस्थों से प्रजा की रक्षा करना राजा का कर्तव्य है।[13] विज्ञानेश्वर कायस्थ शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'कायस्थ लोग हिसाब-किताब करने वाले गणक, लिपिक, शासकों के प्रिय पात्र एवं मायावी स्वभाव वाले होने से उनका निवारण कठिन होता है।[14] कायस्थ शब्द की अनेक व्याख्याएँ की गई हैं, यथा जिसके आदर्श एवं इच्छाएँ केवल उसकी काय (शरीर) में ही केन्द्रित हो जाएँ और जो किसी अन्य वस्तु की परवाह न करे वह कायस्थ कहलाता है। यद्यपि कायस्थों का उल्लेख चार वर्णों में नहीं मिलता है किन्तु जिस प्रकार चारों वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई है उसी प्रकार कायस्थ की उत्पत्ति भी ब्रह्मा की काया से बताई गई है। पुराणों के अनुसार ब्रह्मा ने धर्मराज की कचहरी का प्रबन्ध करने के लिए अपनी काया से चित्रगुप्त को उत्पन्न किया जिसे कायस्थों का मूल पुरुष माना जाता है। चित्रगुप्त की दो पत्नियाँ थीं एरावती एवं दक्षिणा। एरावती से 08 पुत्र एवं दक्षिणा से 04 पुत्र पैदा हुए। इन 12 पुत्रों के वंश में कायस्थों की 12 शाखाएँ अस्तित्व में आयीं - माथुर, श्रीवास्तव, सूर्यध्वज, निगम, गौड़, अम्बिष्ट, वाल्मीकि, अष्ठाना, भटनागर, सक्सैना, कुलश्रेष्ठ एवं कर्ण[15] अभिलेखों में कायस्थ का सर्वप्रथम उल्लेख कुषाण कालीन (30 ई. से 225 ई.) बुद्ध प्रतिमा अभिलेख में हुआ है[16] जिसे किसी कायस्थ की पत्नी ने लिखवाया था। इसी प्रकार एक अन्य अभिलेख जो संवत 93 (171 ई.)[17] का है, में भी कायस्थ का उल्लेख प्राप्त होता है। लेख में एक कायस्थ बौद्ध श्रमण द्वारा एक प्रतिमा एवं छत्र दान में दिये जाने का उल्लेख है। कुमारगुप्त कालीन वर्ष 124 एवं वर्ष 129 के दामोदर ताम्रपत्रों[18] में प्रथम कायस्थ या ज्येष्ठ कायस्थ का उल्लेख मिलता है। संभवतः इसी कारण राखालदास वंद्योपाध्याय[19] ने उन्हें हैड क्लर्क माना है।

भारत के विभिन्न भागों में लेखक या लिपिक को कायस्थ के अतिरिक्त करण, करणिक, करणि, शासनिन एवं धर्मलेखी नाम से भी जाना जाता था। किसी अधिकरण (कार्यालय) से सम्बन्धित होने के कारण लिपिक को करण कहा जाता था। इस प्रकार करण को कायस्थ का ही पर्याय माना जा सकता है। अमरकोश की व्याख्या में क्षीरस्वामी ने करण को कायस्थों एवं अध्यक्षों के समाज का परिचायक माना है।[20] कीलहर्न[21] ने करणिक को विधि प्रलेखों का लेखक माना है जो कि एक सरकारी पद था। डी.सी. सरकार[22] ने करण को कायस्थ का ही पर्याय माना है। करण लोगों ने देश के कुछ ही भागों में लेखन कार्य को अपनाया किन्तु कायस्थ सर्वत्र लेखक का ही कार्य करते थे। कालान्तर में जब कायस्थ एक अलग जाति बन गई तो करण भी उसमें सम्मिलित हो गये।

राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों में लेखक के रूप में कायस्थों के पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होते हैं। प्रायः लेख के अन्त में 'कायस्थेन लिखितं' वाक्य का प्रयोग मिलता है। राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों में कायस्थ का सर्वप्रथम उल्लेख मालव संवत 795 के शिवगण के कंसवा शिलालेख[23] में हुआ है। लेख में शब्द रोपक गोमिक के पुत्र को करणिक एवं कायस्थ कहा गया है। इस लेख में

मौर्यवंशीय राजा धवल का उल्लेख आता है। इस शिलालेख के बाद अन्य किसी मौर्यवंशीय राजा का राजस्थान में उल्लेख नहीं मिलता है, इस दृष्टि से भी इस शिलालेख का महत्त्व बढ़ जाता है। इसी प्रकार चाटसू से प्राप्त अभिलेख[24] का निर्माण करने वाला कारणिक भानु था। यह लेख चाटसू के गुहिल नृपतियों की जानकारी का महत्त्वपूर्ण स्रोत है। वि.सं.1010 की सारणेश्वर प्रशस्ति[25] का लेखक कायस्थ पाल एवं वेल्लक थे। यह प्रशस्ति तत्कालीन मेवाड़ की शासन व्यवस्था, कर प्रणाली तथा धार्मिक जीवन पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालती है। जी.एच. ओझा[26] के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातियों के जो लोग लेखक या अहल्कारी का कार्य करते थे वे भी कायस्थ कहलाते थे। ये लोग राजकाज में भाग लेते थे। सरकारी कार्यालयों में नियुक्त होने के कारण बहुत-सी गुप्त राजकीय बातों की जानकारी भी इन्हें रहती थी। इस प्रकार स्पष्ट है कि कायस्थ उस समय लेखक हुआ करते थे। वि.सं. 1051 (995 ई.) के चालुक्य मूलराज प्रथम के बालेरा (सांचोर) से प्राप्त ताम्रपत्र[27] का लेखक कायस्थ कांचन था। ताम्रपत्र में चालुक्य नरेश मूलराज प्रथम द्वारा वरणक (बालेरा) ग्राम की भूमि चन्द्रग्रहण के अवसर पर दीर्घाचार्य नामक ब्राह्मण को दान में देने का उल्लेख है। वि.सं.1116 के पाणाहेड़ा (बाँसवाड़ा) अभिलेख[28] का उत्कीर्णक कायस्थ श्रीधर पुत्र सराजन था। यह लेख मालव एवं बागड़ के परमारों के इतिहास का महत्त्वपूर्ण स्रोत है।

बंगाल के गौड़ कायस्थों को प्रशस्ति लेखन एवं सुन्दर अक्षर लिखने में दक्ष माना जाता था।[29] संभवतः इसी कारण मध्य देश तथा राजपूताने में प्रशस्ति अंकन के लिए इन कायस्थों को आमंत्रित किया गया। राजस्थान के अनेक अभिलेखों के लेखक गौड़ कायस्थ थे। दधीचिक चच्च के वि.सं.1056 (999 ई.) के किणसरिया अभिलेख[30] का लेखक गौड़ कायस्थ वंशीय सत्कवि कल्य का पुत्र महादेव था। यह लेख चौहान एवं दहिया वंश के इतिहास एवं नागौर क्षेत्र में शक्ति उपासना की लोकप्रियता का महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है। रायपाल के वि.सं. 1198 के नाडौल प्रस्तर लेख[31] का लेखक गौड़ कायस्थ वादिग पुत्र पेथड़ था। यह लेख स्वशासन एवं पंचायतीराज के अध्ययन की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। प्रशस्तियों में कायस्थ जातीय, वालभ जातीय, गौड़ कायस्थ वंश अथवा गौडान्वय कायस्थ आदि उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि 9वीं-10वीं शताब्दी के लगभग कायस्थ वर्ग एक जाति के रूप में संगठित हो चुका था।

कायस्थ जाति की शाखाएँ स्थान विशेष के नाम से भी प्रसिद्ध हुईं। ऊपर गौड़ (बंगाल) कायस्थों का उल्लेख किया जा चुका है। माथुर कायस्थों का उल्लेख उदयसिंह के वि.सं.1306 के भीनमाल के प्रस्तर अभिलेख[32] में हुआ है। लेख में मथुरान्वय कायस्थ जातीय ठाकुर उदयसिंह का उल्लेख मिलता है। कायस्थों की तृतीय शाखा श्रीवास्तवों की है जो संभवतः श्रावस्ती (जिला गोंडा, उत्तर प्रदेश) की निवासी थी।[33] प्राचीन राजस्थान के किसी भी अभिलेख में श्रीवास्तव कायस्थ का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों में निगम कायस्थों के उल्लेख मिलते हैं। वि.सं. 1215 के नरहड़ दान-पत्र[34] में नैगम कायस्थ श्रीचन्द, विल्हन एवं तल्हन का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी प्रकार नाडौल से प्राप्त वि.सं. 1218 के अल्हण पुत्र कीर्तिपाल के ताम्रपत्र[35] का लेखक नैगम कायस्थ सोढा का पौत्र एवं दामोदर का पुत्र शुभंकर था। इसी प्रकार नाडौल से ही प्राप्त वि.सं. 1218 के अल्हण देव के ताम्रपत्र[36] का रचनाकार नैगम वंशीय मनोरथ का पौत्र वासल का पुत्र श्रीधर था। वि.सं. 1226 के बिजोलिया अभिलेख[37] का लेखक नैगम कायस्थ छीतिग का पुत्र केशव था।

कायस्थों का वालभ्य या वलभशाखा का उल्लेख भी प्राचीन राजस्थान के अभिलेखों में हुआ है। उदाहरणार्थ वि.सं. 1136 की अर्थूंणा की शिव मन्दिर प्रशस्ति[38] का लेखक वालभ जातीय कायस्थ अस्तराज था। इसी प्रकार वि.सं. 1166 के अर्थूंणा की जैन मन्दिर प्रशस्ति[39] का लेखक सांधिविग्रहिक वालभ जातीय वामन कायस्थ था।

कतिपय अभिलेखों में कायस्थों को ठाकुर उपाधि से विभूषित किया गया है। उदाहरणार्थ नाडौल से प्राप्त वि.सं. 1198 के अभिलेख में कायस्थ पेथड़ को ठाकुर[40] कहा गया है। इसी प्रकार नरहड़ से प्राप्त विग्रहराज चतुर्थ के वि.सं. 1215 के अभिलेख[41] में कायस्थ ठाकुर श्रीचन्द का उल्लेख मिलता है। इस उपाधि से कायस्थों की राजनीतिक एवं

सामाजिक प्रतिष्ठा की जानकारी मिलती है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि जब लेखन कला का व्यवसाय के रूप में विकास हुआ तब गैर ब्राह्मण वर्ग के लोगों ने गणित एवं संस्कृत का ज्ञान प्राप्त कर लेखन को व्यवसाय के रूप में अपनाया। ऐसे व्यवसायी लेखकों का एक विशेष वर्ग कायस्थ के नाम से जाना जाने लगा। 9वीं-10वीं शताब्दी के लगभग लेखकों के इस वर्ग ने जाति का रूप धारण कर लिया। स्थान विशेष से सम्बन्धित होने के कारण इनकी कई शाखाओं का उल्लेख मिलता है किन्तु प्राचीन राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों में माथुर, निगम, वालभ्य एवं गौड़ कायस्थों का विशेष उल्लेख मिलता है। बंगाल के गौड़ कायस्थों को प्रशस्ति लेखन एवं सुन्दर अक्षर लिखने में दक्ष माना जाता था। परिणामस्वरूप मध्यदेश तथा राजपूताने में प्रशस्ति अंकन के लिए इन कायस्थों को आमंत्रित किया गया इससे एक ओर जहाँ प्रशस्ति लेखन को गति मिली वहीं लिपि (कुटिल लिपि) के विकास में इनके अवदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता।

सन्दर्भ :

1. द्रष्टव्य पाण्डेय, राजबली, भारतीय पुरालिपि (लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 1988), पृ. 81, **2.** राय, एस. एन., भारतीय पुरालिपि एवं अभिलेख (शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2001), पृ. 25. **3.** विनयपिटक, 1.77; **4.**128 (सम्पा. ओल्डेनवर्ग, एच., पी.टी.एस., लंदन, 1879). **4.** ब्यूलर, जी., 'फर्दर इंशक्रिप्शंस फ्रॉम सांची', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम-2, पृ. 366-372, **5.** एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम-1, पृ. 01, **6.** पाण्डेय, राजबली, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 83, **7.** अग्रवाल, वी.एस., पाणिनिकालीन भारतवर्ष (चौखम्भा विद्याभवन, तृतीय संस्करण, 1996), पृ. 102, **8.** भण्डारकर, डी. आर., अशोक (एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, 1974), पृ. 267, **9.** भट्ट, जनार्दन, अशोक के धर्म लेख (सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2000), पृ. 110, **10.** ब्यूलर, जी., पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 102, **11.** फ्लीट, जे. एफ. (अनु. मिश्र, जी.एस.पी.), भारतीय अभिलेख संग्रह खण्ड-03 (राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर), पृ.151, टिप्पणी 07, **12.** कायस्थगणका लेखकाश्च.... मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.335, **13.** चाटतस्कर दुर्वृतमहासाहस कादिभिः। पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत कायस्थैश्च विशेषतः।। वही, 1.336, **14.** द्रष्टव्य, काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, (उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, चतुर्थ संस्करण, 1992), पृ. 128, **15.** सहाय, के.एम., सक्सेना देवेन्द्र, श्रीचित्रगुप्त महापरिवार का इतिहास, पृ. 81, **16.** गोयल, एस. आर., प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, खण्ड प्रथम (राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1982), पृ. 482, **17.** शर्मा, के.जी., अर्ली जैन इंशक्रिप्शंस ऑफ राजस्थान (नवरंग, न्यू देहली, 1993), पृ. 51. **18.** बसाक, आर.जी., 'दि फाइव दामोदरपुर कॉपरप्लेट इंशक्रिप्शंस ऑफ दि गुप्ता पीरियड', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम-15, पृ. 130-134, **19.** वंद्योपाध्याय, आर. डी. (अनु. कृष्ण आनन्द), गुप्त युग (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1970) पृ. 64, **20.** द्रष्टव्य, काणे, पी.वी., पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 128, **21.** कीलहर्न, एफ., एपिग्रैफिया इण्डिका वाल्यूम-2, पृ. 85 टिप्पणी 01 एवं पृ. 135, **22.** सरकार, डी.सी., स्टडीज इन सोसाइटी एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ एन्शेन्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया, पृ. 158-159, **23.** मिश्र, आर.एल., इंशक्रिप्शंस ऑफ राजस्थान, वाल्यूम-4 (जवाहर कला केन्द्र, जयपुर, 2006), पृ. 26. **24.** भण्डारकर, डी.आर., 'चाटसू इंशक्रिप्शंन ऑफ बालादित्य', एपिग्रैफिया इण्डिका वाल्यूम-12, पृ. 10-17, **25.** मिश्र, आर. एल., पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 40, **26.** ओझा, जी. एच., मध्यकालीन भारतीय संस्कृति (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, 1966), पृ. 41, 27. कोनो, स्टेन, 'बालेरा प्लेट ऑफ मूलराज, प्रथम, संवत 1051, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम-10, पृ. 76-79, **28.** शर्मा, जी. एन., राजस्थान इतिहास के स्रोत (राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1983), पृ. 72, **29.** लिखिता रुचिराक्षरा प्रशस्ति करणिकजडेन गौडेन, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम-01, पृ. 129, **30.** रामकरण, 'किणसरिया इंशक्रिप्शन ऑफ दधीचिक (दहिया) चच्च (वि.) सं. 1056', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम -12, पृ. 06. **31.** भण्डारकर, डी. आर., 'दि चाहमानाज ऑफ मारवाड', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम-11, पृ. 11, **32.** वही, पृ. 57, **33.** उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय अभिलेख (प्रज्ञा प्रकाशन पटना, द्वितीय संस्करण, 1970), पृ. 83, **34.** सोमानी, आर. वी. जैन इंशक्रिप्शंस ऑफ राजस्थान (राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, 1982), पृ. 69, **35.** कीलहर्न, एफ. 'दि चाहमानाज ऑफ नाडोल', एपिग्रैफिया इण्डिका वाल्यूम-09, पृ. 68. **36.** वही, पृ. 64, **37.** व्यास, अक्षय कीर्ति, बिझोली रॉक इंशक्रिप्शन ऑफ चाहमान सोमेश्वरः वि.सं. 1226, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम-26, पृ. 111. **38.** मिश्र, आर. एल., पूर्व निर्दिष्ट, वाल्यूम-01, पृ. 122, **39.** वही, पृ. 123, **40.** व्यास, एस.पी., राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन, (राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 1986), पृ. 119, **41.** शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डायनेस्टीज (मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1975) पृ. 203.

***इतिहास विभाग, महारानी श्री जया राजकीय महाविद्यालय, भरतपुर (राज.)**

*** *संस्कृत विभाग, रामेश्वरी देवी कन्या राजकीय महाविद्यालय, भरतपुर (राज.)**

❑❑

मोहनगढ़ : एक सर्वेक्षणात्मक अध्ययन

डॉ. आनन्द कुमार शर्मा

मोहनगढ़ ग्राम, ग्वालियर जिले के भितरवार विकासखण्ड में आता है। भौगोलिक रूप से मोहनगढ़ $25^{0}79$ 'उत्तरी अक्षांश से $38^{0}07$' पूर्वी देशान्तर पर स्थित है। ग्वालियर से टेकनपुर, छीमक, बागवई, भितरवार होते हुए भितरवार से करैरा रोड़ पर केरूआ ग्राम से मोहनगढ़ ग्राम पहुँचा जा सकता है। केरूआ ग्राम से मोहनगढ़ ग्राम तक पक्का सड़क मार्ग है, यहाँ से यह 05 कि.मी. की दूरी पर पश्चिम दिशा में स्थित है। ग्वालियर से यह दूरी लगभग 75 कि.मी. है तथा भितरवार से मोहनगढ़ 15 कि.मी. की दूरी पर दक्षिण-पश्चिम दिशा में स्थित है। मोहनगढ़ ग्राम की राजस्व भूमि का उत्तरी भाग पार्वती नदी के किनारे पर है। मोहनगढ़ ग्राम का मूल नाम मोहनपुर ग्राम था, जोकि मोहनपुरी बाबा के नाम पर था। जब राव बहोरन सिंह जाट को 19वीं शताब्दी में ग्वालियर के सिंधिया शासक ने मोहनपुर ग्राम सहित पाँच ग्रामों की जागीर दी, तब राव बहोरन सिंह जाट ने मोहनपुर ग्राम में 'दुर्ग' (गढ़ी) का निर्माण करवाया, तभी से मोहनपुर का नाम परिवर्तित होकर मोहनगढ़ हो गया।

मोहनगढ़ ग्राम में स्थित 'मोहनगढ़ का दुर्ग (गढ़ी)' का निर्माण राव बहोरन सिंह जाट ने करवाया था। मोहनगढ़ का दुर्ग (गढ़ी) अभी भी सुरक्षित है। मोहनगढ़ के दुर्ग (गढ़ी) में अभी भी राव बहोरन सिंह जाट के वंशज निवास करते हैं। ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक दृष्टि से मोहनगढ़ ग्राम एवं मोहनगढ़ के दुर्ग का मैंने सर्वप्रथम सर्वेक्षण 1998 ई. में किया था। उसके बाद अनेक बार मोहनगढ़ ग्राम एवं मोहनगढ़ के दुर्ग का भ्रमण किया। मोहनगढ़ ग्राम के दुर्ग, चार अभिलेखों, मंदिर और मूर्तियों की खोज सर्वप्रथम मैंने की। मोहनगढ़ ग्राम में स्थित 'मोहनगढ़ का दुर्ग (गढ़ी)' सपाट मैदान पर निर्मित है। मोहनगढ़ की गढ़ी, दुर्ग स्थापत्य की 'मैदानी दुर्ग' (गढ़ी) की श्रेणी में आती है। मोहनगढ़ की गढ़ी का निर्माण लगभग 10 फीट ऊँचा अधिष्ठान देकर बनाया गया है। इस गढ़ी के पास छोटी नदी (ग्रामीण इस छोटी नदी को 'नरियाँ' कहते हैं) प्रवाहित होती हैं। मोहनगढ़ की गढ़ी आकार में वर्गाकार है। मोहनगढ़ की गढ़ी का निर्माण अनेक चरणों में हुआ था। प्रारंभ में गढ़ी के मध्य वाले भवन बने थे, जिनकी दीवारें ईंटों, पत्थरों और चूने के प्लास्टर द्वारा निर्मित थी तथा छत लकड़ी, घास-फूस और मिट्टी की पके हुए खपरैल से निर्मित थी। कालान्तर में छतों को पत्थर की पटियों द्वारा निर्मित किया गया। ऐसे अन्य भवन भी समय- समय पर आवश्यकतानुसार निर्मित किये गये थे। मोहनगढ़ की गढ़ी दो हिस्सों में विभक्त थी, पूर्व की ओर का भाग प्रशासनिक राजकाज के लिए एवं पश्चिम का भाग रनिवास के रूप में प्रयुक्त होता था।

गढ़ी का मुख्य प्रवेश द्वार पूर्व दिशा की ओर है। इसी दिशा से सात दरवाजों से प्रवेश करके मुख्य गढ़ी में पहुँचा जा सकता है। प्रथम मुख्य दरवाजा खुला हुआ बना है। इसके दोनों ओर

बूर्ज सुरक्षा प्रहरियों के लिए हैं, दांयी ओर बनीं कचहरी की दूसरी मंजिल पर कमरे बने हैं। मुख्य दरवाजे के दांयी ओर कचहरी बनीं हुई है जिसमें प्रशासनिक राजकाज होता था। प्रथम मुख्य दरवाजे के बाद छोटा आँगन फिर 'दूसरा दरवाजा' बांयी ओर बना है, इसे हाथी चिंघाड़ दरवाजा कहते है, क्योंकि इसके लकड़ी के किवाड़ों में लगभग 1-1 फीट लंबी लोहे की सुदृढ़ कीलें लगी है। जिन्हें हाथी भी नहीं तोड़ सकता था। यह दरवाजा आकार में 7 फीट ऊँचा तथा 5.5 फीट चौंड़ा है। दूसरे दरवाजे में प्रवेश के साथ ही अंदर दोनों तरफ सुरक्षा प्रहरियों के लिए खुले तीन-तीन दरवाजों के कमरे बनें हैं। इसके बाद सात दरवाजों का खुला हुआ बड़ा कमरा बना है, यहाँ से 'कारवाई साहब' राजकाज देखते थे। इसमें जागीर काल की लकड़ी की एक सुन्दर अलमारी अभी भी रखी हुई है।

दांयी तरफ आगे चलकर आर.आई. कमरा है, जिसमें राजस्व संबंधी कार्य होता था। यहाँ बहुत बड़ा और ऊँचा बुर्ज है, जिस पर 'गोल बंगला' बना हुआ है। 'गोल बंगला' में छोटा सा 'झरोखा' बना है, जहाँ जागीरदार बैठकर राजकाज की समीक्षा समय-समय पर निर्देश देता था तथा यहीं से जागीरदार समय-समय पर जनता से भी मिलता था। दांयी तरफ से आगे चलकर बांयी ओर 'तीसरा दरवाजा' बना है। यहीं से मुख्य गढ़ी में प्रवेश प्रारंभ होता है, जिसमें जागीरदार का परिवार निवास करता है। यह बेहद सुरक्षित एवं सुदृढ़ प्राचीर से घिरा हुआ है। 'गोल बंगला' के बुर्ज और तीसरे दरवाजे के बुर्ज के मध्य सुदृढ़ सुरक्षा हेतु लगभग 50 फीट से अधिक ऊँची एवं लगभग 20 फीट से अधिक चौड़ी दीवार निर्मित है। तीसरा दरवाजा सुरक्षा की दृष्टि से छोटा बनाया गया है। तीसरा दरवाजा आकार में 6.5 फीट ऊँचा तथा 4.5 फीट चौंड़ा है। तीसरे दरवाजे में सुदृढ़ लकड़ी के किंवाड़ लगे हुए हैं। तीसरे दरवाजे के बाद छोटा-सा कमरा बना है, जोकि आकार में 7.5 फीट लंबा तथा 4.5 फीट चौंड़ा है।

तीसरे दरवाजे के बाद चौथा दरवाजा है। तीसरे दरवाजे और चौथे दरवाजे के मध्य 4.5 फीट की दूरी है। चौथा दरवाजा आकार में 7 फीट ऊँचा तथा 4.5 फीट चौंड़ा है। चौथे दरवाजे के बाद छोटा-सा कमरा बना है। इसके बाद दांयी ओर मुड़कर छोटा-सा पाँचवाँ दरवाजा है। पाँचवाँ दरवाजा आकार में 6.5 फीट ऊँचा तथा 2.5 फीट चौंड़ा है। इसके बाद एक कमरा बना है, जोकि आकार में 18 फीट लंबा तथा 7.5 फीट चौंड़ा है। पाँचवें दरवाजे के बाद 'छठा दरवाजा' बना है। छठवाँ दरवाजा आकार में 6 फीट ऊँचा तथा 4 फीट चौंड़ा है। छठवें दरवाजे के बाद दोनों तरफ संकरी सीढ़ियाँ बनीं हुई हैं, जिनकी चौंड़ाई 2.5 फीट है। सुरक्षा की दृष्टि से सीढ़ियाँ संकरी बनायीं गयीं। इसके बाद 'सांतवाँ दरवाजा' है। छठवें दरवाजे और सांतवें दरवाजे के मध्य 2.5 फीट की दूरी है। सांतवाँ दरवाजा अर्ध चंद्रकार है। सांतवाँ दरवाजा आकार में 7 फीट ऊँचा तथा 4.5 फीट चौंड़ा है। इसके बाद में लगभग 100 फीट से अधिक लम्बा तथा लगभग 50 फीट से अधिक चौड़ा चूने के कंकड़ों और चूने से पक्का 'आँगन' बना हुआ है।

छठवें दरवाजे और सांतवें दरवाजे के मध्य बांयी तरफ सीढ़ियों से सीधे चढ़ने पर दक्षिणी बुर्ज पर पहुँचते हैं, जहाँ लोहे की 6.25 फीट की भारी भरकम तोप रखी है तथा दांयी तरफ की सीढ़ियों से सीधे चढ़ने पर 'गोल बंगला' पर पहुँचते हैं। 'गोल बंगला' पूर्वी बुर्ज पर बना है। यह आकार में गोल बना हुआ है, इसकी छत मंदिर के गुबंद की तरह गोल है। इसलिए इसको 'गोल बंगला' कहते हैं। दक्षिणी बुर्ज और गोल बंगला के मध्य बिना किवाड़ों के दरवाजों का एक भवन बना है। इसकी छत गजपृष्ठाकार है। संभवतः यह सभा-भवन है। गढ़ी दो भागों में निभक्त है। प्रमुख भाग जिसमें पूर्वी भाग जिसमें सभी प्रशासनिक भवन और पश्चिमी भाग रनिवास है। पूर्वी भाग के भवन एक मंजिले तथा पश्चिमी भाग रनिवास के भवन में दो मंजिले छोटे-छोटे कम ऊँचाई के बने हुए हैं। गढ़ी में बड़ा तलघर बना है, जो गर्मियों में ठण्डा रहने के कारण निवास हेतु प्रयुक्त होता था। रनिवास में ही जमीन के अंदर गुप्त अन्न भण्डार बना हुआ है। रनिवास में ही नीचे तलघर में 'अस्त्र शस्त्र भण्डार' बना हुआ है। रनिवास के पास मुख्य गढ़ी में अंदर 'अश्वशाला' बनीं है। वर्तमान में गढ़ी का एक अन्य द्वार पश्चिम दिशा में बना दिया गया है, जो पहले नहीं था। जहाँ से प्रमुख द्वार से होकर एक अन्य दरवाजे में प्रवेश करके रास्ता गया है। रनिवास के पास मुख्य गढ़ी में उत्तरी बुर्ज के

पास एक कुँआ बना है, जो गढ़ी में जल प्रबंधन का स्रोत है। गढ़ी के पश्चिमी बुर्ज पर कांसे की बनी दो छोटी तोपें भी रखी हैं जिनकी लंबाई 2.5 फीट है।

मोहनगढ़ की मुख्य गढ़ी आकार में वर्गाकार है। इसमें चार बड़े-बड़े और ऊँचे-ऊँचे बुर्ज हैं। बुर्ज इस वर्गाकार संरचना की लगभग 20 फीट मोटी (चौड़ी) रक्षा प्राचीर में बने है। गढी की रक्षा प्राचीर चारों ओर से लगभग 50 फीट से अधिक ऊँची है। संपूर्ण रक्षा प्राचीर के ऊपर चारों ओर से 5 फीट ऊँची तथा 2.5 फीट चौड़ी सुरक्षा प्राचीर बनीं है, इसके ऊपर अंग्रेजी के उल्टे 'यू' आकार के 'कंगूरे' बने हुए हैं। इनमें बीच बीच में स्थान बनें हैं, जहाँ से बंदूक रखकर और कंगूरों के पीछे छुपकर दुश्मन पर प्रहार किया जा सकता था। गढ़ी की सुरक्षा प्राचीर और बुर्जो में तिरछी मारें बनीं हुई हैं, जिनमें से नीचे छुपे दुश्मन पर प्रहार किया जा सकता था।

मोहनगढ़ की मुख्य गढ़ी से सटे दक्षिण-पूर्व एवं दक्षिण-पश्चिम भाग में अन्य बड़े-बड़े भवन बने हुए हैं, जिनका प्रयोग अन्य व सैन्य कार्यों एवं पशुओं के लिए किया जाता था। इनके लिए कोई पृथक सुरक्षा दीवार नहीं है, बल्कि ये भवन सब एक दूसरे से लगभग 20 से 30 फीट ऊँचाई लिये जुड़े हुए हैं। इसमें भी चार बुर्ज बने हुए हैं। दक्षिण-पूर्व में एक बड़ा दुमंजिला भवन तथा एक आंगन है। आंगन से लगे हुए चारों ओर कमरे बने हुए हैं। गढ़ी का निर्माण बलुए पत्थरों, ईंटों, चूने की चिनाई तथा चूने के प्लास्टर द्वारा किया गया है। गढ़ी में उत्तराभिमुख छोटा हनुमान जी का मंदिर भी बना है।

मोहनगढ के अभिलेख

मोहनगढ़ ग्राम में अभी तक चार अभिलेख मेरे द्वारा खोजे गये हैं। एक अभिलेख गढ़ी में हनुमान जी के मंदिर के पास, दूसरा मोहनगढ़ ग्राम में प्राचीन पुल पर, तीसरा मोहनगढ़ ग्राम के राम-जानकी मंदिर की दीवार पर (यह अभिलेख सबसे लंबा है, अभिलेख पर लगातार चूने की पुताई से यह अस्पष्ट हो गया है, किन्तु इस पर मेरे द्वारा अनुसंधान जारी है), चौथा गढ़ी के पश्चिमी बुर्ज पर रखी तोप पर अंकित है।

गढ़ी में हनुमान जी के मंदिर के पास पटिया पर एक अभिलेख 2 फीट लंबा एवं 1.5 फीट चौड़ा है। 17 पंक्तियों का यह अभिलेख देवनागरी लिपि एवं हिन्दी भाषा में है। अभिलेख समय के साथ धूप और वर्षा के कारण क्षरित हो गया है। अभिलेख में श्रीराव बहोरन सिंह द्वारा गढ़ी के निर्माण का उल्लेख है। अभिलेख की अंतिम 17वीं पंक्ति में वि. संवत 1944 अंकित है, इस प्रकार मोहनगढ़ के दुर्ग (गढ़ी) का निर्माण सन 1887 ई. में हुआ। मोहनगढ़ के दुर्ग (गढ़ी) के पश्चिमी बुर्ज पर रखी तोप पर अभिलेख अंकित है। यह अभिलेख भी देवनागरी लिपि एवं हिन्दी भाषा में है। इस तोप पर दो अभिलेख हैं, एक में 04 पंक्तियाँ तथा दूसरे अभिलेख में एक गोलाकार में लंबी लाईन अंकित है, इसमें संवत 1942 तिथि अंकित है। इस प्रकार तोप पर अंकित तिथि सन 1885 ई. हुई। प्रथम 04 पंक्तियों के अभिलेख में मोहनगढ़ के दुर्ग (गढ़ी) एवं तोप के निर्माता राव बहोरन सिंह के नाम का उल्लेख है। इस अभिलेख में श्रीराव बहोरन सिंह को 'महाराज श्रीराव बहोरन सिंह बहादुर जी' लिखा गया है।

मोहनगढ़ ग्राम में प्राचीन पुल, गणेश मंदिर के पीछे छोटी नदी (नरियां) पर खेड़ा ग्राम को जाने वाले रास्ते पर बना है। मोहनगढ़ ग्राम के इस प्राचीन पुल में एक पत्थर की पटिया पर 05 पंक्तियों का अभिलेख अंकित है। इस अभिलेख की महत्ता इसलिए है, क्योंकि इसमें दुर्ग (गढ़ी) के निर्माता के साथ ही, दुर्ग (गढ़ी) के निर्माण का खर्च अंकित है। इसमें महाराज श्रीराव बहोरन सिंह बहादुर जी द्वारा पुल एवं गढ़ी के निर्माण का उल्लेख है। अभिलेख में दुर्ग (गढ़ी) के निर्माण का खर्च एक लाख अठारह हजार रुपये बताया गया है।

मंदिर एवं मूर्तियाँ

मोहनगढ़ ग्राम से अनेक मंदिर एवं मूर्तियाँ, स्मारक आदि प्राप्त है। जिनमें से कतिपय का विवरण इस प्रकार है।

मोहनपुरीबाबा की समाधि मंदिर एवं मठ :- मोहनगढ़ ग्राम में पूर्व दिशा से ग्राम में प्रवेश करने पर सर्वप्रथम मोहनपुरीबाबा की समाधि मंदिर एवं मठ मिलता है। मंदिर साधारण रूप से बने, ऊँचे वर्गाकार चबूतरे पर बना हुआ है। चबूतरे के बीच में मोहनपुरीबाबा की समाधि है। वस्तुतः समाधि के ऊपर छोटा-सा मंदिर बनाया गया है, जिसमें शिव लिंग और नंदी की प्रतिमा स्थापित है। मंदिर का गुबंद साधारण है, मंदिर ईंटों एवं चूने गारे से बना है, जिस

पर चूने का प्लास्टर किया गया है। समाधि 15वीं शताब्दी ई. की है। मंदिर के दूसरी तरफ मठ बना हुआ है।

गणेश मंदिर : मोहनगढ़ ग्राम का गणेश मंदिर ग्राम की उत्तर दिशा में स्थित है। यह मंदिर मोहनगढ़ ग्राम में प्राचीन पुल के पास छोटी नदी (नरियां) के किनारे खेड़ा ग्राम को जाने वाले रास्ते पर बना है। मंदिर ऊँचे अधिष्ठान पर बना है। इस अधिष्ठान में दुर्गों के समान छः छोटे-छोटे बुर्ज बने हुए हैं। गणेश मंदिर के स्थापत्य में शिखर, गर्भगृह, महामण्डप सम्मिलित हैं। शिखर गुंबदाकर है। गर्भगृह लगभग छः फीट चौड़ा एवं छः फीट लंबा है। गणेश मंदिर का महामण्डप लगभग दस फीट चौड़ा एवं तीस फीट लंबा है। गर्भगृह में श्री गणेश जी की प्रतिमा स्थापित है, गणेश प्रतिमा 29 से.मी. चौड़ी एवं 18 से.मी. ऊँची पीठिका पर विराजमान है। श्री गणेश जी की प्रतिमा 3 फीट ऊँची है, चतुर्भुजी गणेश प्रतिमा के ऊपर के दांयें हाथ में फरसा एवं बांयें हाथ में लड्डू, नीचे के दांयें हाथ में परसू एवं बांयें हाथ में माला है। श्री गणेश जी की प्रतिमा की पीठिका में मूसक अंकित है। मंदिर का निर्माण महाराज श्रीराव बहोरन सिंह बहादुर जी द्वारा करवाया गया था। मंदिर का निर्माण 19वीं शताब्दी ई. के उत्तरार्ध में हुआ था।

राम-जानकी मंदिर : मोहनगढ़ ग्राम में पूर्व दिशा से ग्राम में प्रवेश करने पर मोहनपुरीबाबा की समाधि मंदिर एवं मठ से थोड़ी दूरी पर दायें हाथ पर श्री राम जानकी मंदिर निर्मित है। स्थापत्य की दृष्टि से मंदिर साधारण है। मंदिर का मुख्य द्वार दक्षिणाभिमुख है। मंदिर का शिखर नागर शैली का है। राम जानकी मंदिर के गर्भगृह में भगवान श्री राम और माता जानकी की प्रतिमाओं के साथ अन्य प्रतिमाएँ भी स्थापित हैं। - 'राम जानकी' मंदिर के परिसर में दक्षिणाभिमुख हनुमानजी का भी छोटा मंदिर है। राम-जानकी मंदिर की दीवार पर अभिलेख अंकित है। मोहनगढ़ की गढ़ी (दुर्ग) में हनुमान जी के मंदिर के पास पटिया पर अंकित अभिलेख की आठवीं पंक्ति में श्री रघुनाथ जी (राम-जानकी मंदिर) के निर्माण का उल्लेख है, जिसमें श्री रघुनाथ जी (राम-जानकी मंदिर) के निर्माण की लागत 120 रुपये बतायी गयी है। मंदिर का निर्माण महाराज श्रीराव बहोरन सिंह बहादुर जी द्वारा करवाया गया था। मंदिर का निर्माण 19वीं शताब्दी ई. के उत्तरार्ध में हुआ था।

स्मारक छतरी सह शिव मंदिर : मोहनगढ़ ग्राम में पश्चिमी दिशा में स्मारक छतरी सह शिव मंदिर बना है। यह स्मारक छतरी ग्राम के 'पोखर' (तालाब) के किनारे स्थित है। यह किसी की स्मारक छतरी है, जहाँ पर दाह संस्कार के बाद में स्मारक छतरी का निर्माण किया गया और उसमें शिव लिंग एवं नंदी की प्रतिमाओं की स्थापना की गयी है। स्मारक छतरी पूर्वाभिमुख है तथा इसके निर्माण में ईंटों, पत्थरों और चूने का प्रयोग किया गया है। इसके प्लास्टर में चूने का प्रयोग किया गया है। यह स्मारक छतरी सह शिव मंदिर 19वीं शताब्दी ई. में निर्मित प्रतीत होता है। इसके निर्माता की कोई सूचना उपलब्ध नहीं है।

माता का मंदिर : मोहनगढ़ ग्राम में पश्चिमी दिशा में माता का मंदिर बना हुआ है। यह माता का मंदिर ग्राम के 'पोखर' (तालाब) के किनारे स्थित है। मंदिर साधारण रूप से बने ऊँचे चबूतरे पर बना हुआ है। मंदिर साधारण रूप से बना है, इसमें माता की कोई भी प्रतिमा नहीं है, इस मंदिर में अनेक प्रकार की मूर्तियां बिखरी हुई रखीं है, जिनमें से कतिपय का विवरण इस प्रकार है -

(अ) नवग्रह पट्ट : मोहनगढ़ ग्राम के माता के मंदिर में एक नवग्रह पट्ट पर नौ ग्रह अंकित हैं। इस नवग्रह पट्ट पर दांयें से क्रमशः सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति (गुरु), शुक्र, शनि, राहू एवं केतु का अंकन है। सूर्य समभंग स्थानक मुद्रा में वनमाला धारण किये हुए खड़े हैं। सूर्य के दोनों हाथों में सनाल कमल है। सूर्य पैरों में उपहान (जूते) पहने हुए हैं। चन्द्र द्विभंग मुद्रा में खड़े हैं। चन्द्र दायें हाथ में जप माला एवं बायें हाथ में कमण्डल लिये हुए हैं। मंगल भी द्विभंग मुद्रा में खड़े हैं। मंगल दायें हाथ में गदा एवं बायें हाथ में कमण्डल लिये हुए हैं। बुध भी द्विभंग मुद्रा में खड़े हैं। बुध दायें हाथ में धनुष एवं बायें हाथ में कमण्डल लिये हुए हैं। बृहस्पति (गुरु) भी द्विभंग मुद्रा में खड़े हैं। बृहस्पति दायें हाथ में अक्षमाला एवं बायें हाथ में कमण्डल लिये हुए हैं। शुक्र भी द्विभंग मुद्रा में खड़े हैं। शुक्र दायें हाथ में अक्षमाला एवं बायें हाथ में कमण्डल लिये हुए हैं। शनि भी द्विभंग मुद्रा में

खड़े हैं। शनि दायें हाथ में दण्ड एवं बायें हाथ में कमण्डल लिये हुए हैं। राहू की अर्धकाया स्थिति स्पष्ट दिखती है। राहू के दोनों हाथ दर्पण मुद्रा में अंकित है। केतु के शरीर का आधा भाग सर्प पृच्छाकृत रूप में अंकित है। ज्ञातव्य रहे कि राहू-केतु दोनों एक साथ अंकित हैं, ऊपर का भाग राहू का तथा नीचे का भाग केतु का है। नवग्रह पट्ट पर अंकित सभी नौ ग्रह किरीट मुकुट एवं पारंपरिक आभूषण धारण किये हुए हैं। बलुआ पत्थर पर निर्मित यह नवग्रह पट्ट समय के साथ क्षरण की अवस्था में है, इस कारण काफी अस्पष्ट हो गया है। यह नवग्रह पट्ट लगभग 12-13वीं शताब्दी ई. का ग्वालियर के कच्छपघात राजवंश कालीन प्रतीत होता है।

(ब) नायिका प्रतिमा : मोहनगढ़ ग्राम के माता के मंदिर में स्थित नायिका पद्मनी द्विभंग मुद्रा में खड़ी है। दायें हाथ में सनाल कमल एवं बायें हाथ में उत्तरीय पकड़े हुए हैं। नायिका के सुसज्जित केश, गले में कण्ठहार, उरोज तक फैली हारावली केयूर मेखला एवं नायिका नूपूर पहने हुए हैं। बलुआ पत्थर पर निर्मित यह नायिका प्रतिमा समय के साथ क्षरण की अवस्था में है। नायिका प्रतिमा लगभग 12-13 वीं शताब्दी ई. की कच्छपघात कालीन प्रतीत होती है।

(स) तीर्थंकर प्रतिमाएँ : मोहनगढ़ ग्राम के माता के मंदिर में तीर्थंकर प्रतिमाएँ भी रखीं हुई हैं। ये तीर्थंकर प्रतिमाएँ कहाँ से आयीं है, ज्ञात नहीं है। साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि मोहनगढ़ ग्राम के आस-पास दूर-दूर तक कहीं भी कोई जैन मंदिर नहीं है। जैन तीर्थकर की प्रथम प्रतिमा पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में बैठी हुई तपस्यारत है। जैन तीर्थंकर प्रतिमा प्रभामण्डल युक्त है। सुसज्जित केश, लम्बकर्ण चाप से अलंकृत है यह जैन तीर्थंकर प्रतिमा बलुआ पत्थर पर निर्मित प्रतिमा समय के साथ क्षरण की अवस्था में है। मोहनगढ़ ग्राम के माता के मंदिर में रखी दूसरी जैन तीर्थंकर प्रतिमा कायोत्सर्ग की ध्यानस्थ मुद्रा में खड़ी अवस्था में है। सुसज्जित केश, लम्बकर्ण चाप से अलंकृत यह जैन तीर्थंकर प्रतिमा भी बलुआ पत्थर पर निर्मित प्रतिमा समय के साथ क्षरण की अवस्था में है। मोहनगढ़ ग्राम के माता के मंदिर की यह दोनों तीर्थंकर प्रतिमाएँ लगभग 12वीं शताब्दी ई. की कच्छपघात कालीन प्रतीत होती है।

बालाजी विहार कॉलोनी
गुडी गुडा का नाका
लश्कर, ग्वालियर-474001 (म.प्र.)
मो. 9074606019
ईमेल - anand.dr64@gmail.com

❒❒

कहीं पढ़ा था कि जितनी प्रार्थना अस्पतालों में होती है, उतनी मंदिर-चर्च-मस्जिद में नहीं, क्योंकि हमें सहज सुखी जीवन मिले तो शायद हम ईश्वर को याद भी न करें। इसीलिए गुरु नानकदेव ने परमात्मा से गरीबी का वरदान चाहा था। वस्तुतः दुख हमें भगवान की तरफ अभिमुख करते हैं। यह व्यावहारिक तौर पर इसलिए सही है क्योंकि कठिन परिस्थितियों में ही हम ऊंचाइयों की ओर प्रवृत्त होते हैं। संत राजिंदर सिंहजी ने एक उदाहरण लेकर यह समझाया है। एक चील सबसे ऊपर पेड़ पर घोंसला बनाती है। घोसले की बाहरी परत कांटों और अंदर वाली नरम पत्तों की होती है, जिस पर वह अंडे देती है। बच्चों के कुछ बड़े होने पर वह कुछ समय तक उनको खाना खिलाती है, फिर बंद कर देती है। यही नहीं, वह कांटों और पत्तों को उलट-पुलट देती है। इस बदलाव से दुखी और परेशान बच्चे घोंसला छोड़कर आकाश की ऊंचाई में उड़ान भरने लगते हैं।

सीतामऊ के रघुवीर निवास की अप्रकाशित प्रतिमायें

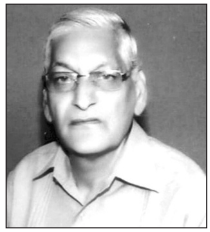

रमेश वारिद

सीतामऊ, मालवा के दक्षिणी पश्चिमी-पठार पर $24^{0}2$, उत्तर और $75^{0}26$, पूर्व में एक छोटी पहाड़ी पर मन्दसौर (म.प्र.) से 32 कि. मी. पूर्व में स्थित है। 16वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में सीतामऊ और लदूना को तत्कालीन तीतरोद परगने में सम्मिलित किया गया था[1]। तब तीतरोद कस्बे पर डोडिया राजपूतों तथा सीतामऊ पर ईडर से आये राठौड़ घराने का अधिकार था। यह राठौड घराना ईडर राज्य के अन्तर्गत लोतरा नामक गाँव से राठौड सरदार जुझार सिंह के नेतृत्व में ईसा की 15 वीं शताब्दी के मध्य मालवा की तरफ आया था और जुझार सिंह के पौत्र नगजी ने ईसा की सोलहवीं सदी के मध्य यहां अपना आधिपत्य स्थापित[2] किया था। 31 अक्टूबर 1701 ई. में मुगल बादशाह औरंगजेब ने फिर इनके वंशज केशवदास को तीतरोद परगने की जागीर प्रदान की। तब केशवदास ने विपत्ति काल में अपनी बसी (परिवार-परिकर) के निवास स्थल सीतामऊ को अपनी राजधानी बनाते हुए इस राज्य की स्थापना की[3]। सीतामऊ मध्यप्रदेश के मन्दसौर जिले का अनुभागीय मुख्यालय है। सीतामऊ रेलवे स्टेशन नहीं है। इसे पक्की सड़कें पश्चिमी रेल्वे की छोटी (मीटरगेज) तथा बड़ी (ब्राडगेज) लाइनों के रेलवे स्टेशनों से जोड़ती है। पश्चिम में अजमेर-खण्डवा छोटी लाइन पर 33 कि. मीटर दूर मन्दसौर रेलवे स्टेशन है पूर्व में नागदा-कोटा बड़ी लाईन पर सुवासड़ा तथा श्यामगढ़ से सीतामऊ क्रमशः 37 कि. मीटर की दूरी पर स्थित है। उक्त रेलवे स्टेशनों से बस द्वारा सड़कमार्ग से सीतामऊ पहुंचा जा सकता है। सीतामऊ मालवा के रघुवीर निवास महल में श्री नटनागर शोध संस्थान-परिसर में वृक्ष के नीचे स्थापत्य शिल्प और प्रतिमा शिल्प की दुर्लभ अप्रकाशित प्रतिमायें तथा प्राच्य देवालय के स्तम्भ शिल्प रखें हैं जो कलात्मक शिल्प के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, विवरण निम्न प्रकार है।

उमा-महेश्वर : उमा-महेश्वर प्रतिमा सफेद-बलुआ पाषाण खण्ड की है। प्रतिमा खण्डित है। इसके बाँयी ओर का भाग सुरक्षित और अखण्डित है। शिव-उमा, नन्दी पर अर्ध-सुखासन मुद्रा में आरूढ़ हैं। उमा शिव के वामाङ्ग जंघा पर विराजित है। उमा के बांये हाथ में दर्पण का अंकन है। उमा का दायाँ हाथ शिव के गले के पीछे की ओर से गले पर द्रष्टव्य है। शिव अपने एक खण्डित हाथ के अलावा शेष हाथों में क्रमशः त्रिशूल, सर्प लिए हैं और एक हाथ उमा के पीठ भाग के पीछे से स्तन पर है। उमा के केश विन्यास और आभूषण, भाव सौन्दर्य तथा शरीर सौष्ठव (शरीर की एनोटामी) उल्लेखनीय है! नन्दी की मुख मुद्रा द्रष्टव्य है। प्रतिमा के कुछ भाग खण्डित हैं। प्रतिमा का निर्माण काल पूर्वमध्यकालीन 7-8 वीं शताब्दी ईस्वी का है। प्रतिमा लाल रेत युक्त पाषाण खण्ड निर्मित है। प्रतिमा विज्ञान और भाव-सौन्दर्य और कला की दृष्टि एवं अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। ग्रन्थों में उमा महेश्वर की प्रतिमाओं का उल्लेख मिलता है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में शिव और उमा को द्विभुजी बताया है और स्त्रीपुरुष के मिथुन रूप में उमेश का दिव्य रूप बनाने का निर्देश दिया है। जटाओं और अर्धचन्द्र से विभूषित अष्टवक्त्र देवेश की बाँई भुजा उमा के कन्धे पर रखी होनी चाहिये तथा उनका दायां हाथ उत्पल से सुशोभित होना चाहिये।

इसी प्रकार उमा का दायाँ हाथ शिव के कन्धे पर और बायें हाथ में दर्पण होना चाहिये।

युग्म स्त्री पुरुषं कार्य मुमेशो दिव्य रूपिणौ
अष्टवक्त्र तु देवेशं जटा चन्द्रार्ध भूषितम्।
द्विपाणीं द्विभुजां देवीं सुमध्यां सुपयोधराम्
वाम पाणीं तु देवस्य देव्यास्य स्कन्धे नियोजयेत्।
दक्षिणं तू करं शम्भोस्त्यलेन विभूषितम्
देव्यास्त दक्षिणं पाणिं स्कन्धे देवस्य कल्पयेत्।
वामपाणिं तथा देव्य दर्पणं दापयेच्छुभम्।।

शास्त्रोक्तानुसार बनी उमा-महेश्वर की प्रतिमायें मध्यप्रदेश और उत्तर प्रदेश में खूब मिलती हैं। उक्त विवेचित उमा-महेश्वर प्रतिमा की ऊँचाई 54 सेन्टीमीटर, चौड़ाई 38 से. मी. व 11 सेण्टी मीटर मौटाई है। तथा प्रतिमा अध्यावधि अप्रकाशित है।

देवी दुर्गा : यह देवी दुर्गा प्रतिमा श्वेत बलुआ शिला खण्ड पर निर्मित है। प्रतिमा के बीस भुजायें हैं। प्रतिमा का मुख भाग खण्डित है। प्रतिमा के प्रभामण्डल के ऊपर के भाग पर बांयी ओर तथा दाँयी ओर एक एक आकाशचारी गन्धर्व युग्म अपने दोनों हाथों में वाद्ययन्त्रों का वादन करते हैं और उनका मुख मुद्रा गान करती दशार्यी है! सुन्दर आभरण- आभूषण तथा वस्त्र धारित यह प्रतिमा शिल्पकारों और मूर्तिकारों की हथोड़ी छैनी के शिल्पगत ज्ञान तथा मूर्तिकला ज्ञान की पराकाष्ठा को स्पर्श करती दर्शाती है। इस प्रतिमा के विभिन्न आयुध बाँयें से- दर्पण, खड्ग, बीजपूरक (बिजोरा), कटार, फल, परशु, वज्र, डमरू, चक्र, बाण और दायें से-सर्प, ढाल, घण्टा, अंकुश, खप्पर (रत्नपात्र), खण्डित, (क्रमशः पाश, खट्वाङग), धनुष, कमण्डलु, अक्षमाला हैं जो अधिकांश खंडित हैं। देवी का एक पैर बार्यी पीठिकापर तथा दूसरा अर्ध सुखासन मुद्रा में हैं। नीचे बायें और दांयें दो परिचारकों का अंकन हैं। देवी कमलपीठ पर आसनस्थ है तथा नीचे दो शेर एक बांयीं ओर और एक दांयीं ओर उत्कीर्ण' हैं। देवी प्रतिमा का माप ऊंचाई 87 से.मी, चौड़ाई 62 से. मी. तथा 17 से.भी. मोटाई है। प्रतिमा का निर्माण काल 7-8 वीं शताब्दी, पूर्व मध्यकाल है। इस आशय की प्रतिमायें मध्यप्रदेश, राजस्थान में मिली हैं। उक्त प्रतिमा शाक्त धर्म और देवी के विराट उग्र रूप की तांत्रिकप्रतिमा है। दुर्गा सप्तशती, देवी पुराण, देवी भागवत पुराण में बीस भुजा देवी प्रतिमा स्वरूप का वर्णन मिलता है।

बलराम : बलराम प्रतिमा लाल बलुआ प्रस्तर खण्ड पर निर्मित है। स्तम्भ गवाक्ष में पद्मपीठ पर चतुर्भुजी बलराम ललितासनस्थ हैं। बलराम के शीश पर पंचसर्प फण वितान उत्कीर्ण है। फण भाग खण्डित है। बलराम का आधा बांयां सिर एवं भुजायें खडिण्त हैं। दांयें ऊपर की भुजा में हल था जिसका दृष्टिगत है। बायें ऊपर की भुजा में पद्म है नीचे के हाथ में मूसल है, ऊपरी भाग खण्डित है। गवाक्ष भाग में बाहर दोनों ओर मकर, जाली, गजांकन है। नीचे और अन्तिम भाग के दोनों ओर एक एक मालाधारी आकाशचारी गन्धर्व अंकित हैं। उक्त प्रतिमा का माप - 90 से.मी. ऊंचाई, चौड़ाई 56 से भी., 19 से.मी. मोटाई है। प्रतिमा का निर्माण काल 8-9वीं शताब्दी ईस्वी है। इस आशय की प्रतिमाएं मथुरा, राजस्थान, मध्यप्रदेश-खजुराहो आदि में पर्याप्त मात्रा में मिली हैं।

स्तंभ : एक स्तंभ श्वेत-रेत-पाषाण खण्ड से निर्मित है। स्तंभ के मध्य से ऊपर तक का भाग है, शेष अनुपलब्ध है। स्तंभ के ऊपर चतुष्कोणीय भाग पर घट पल्लव का सुंदर कलात्मक अंकन है। स्तंभ का माप - 98 से. मी. x 33 से.मी. x 33 से. मी. है। स्तंभ के इस भाग पर पुष्प पत्राक्ष का सुंदर अंकन है। निर्माण काल 7-8वीं शताब्दी ई. पूर्व मध्यकालीन है। यह अप्रकाशित है। दूसरा स्तंभ जमीन में गड़ा है, धरती से स्तंभ का माप- ऊंचाई 79 से.मी. x 30 से.मी. x 30 से.मी. है कुल लंबाई x मोटाई 100 से.मी. है। स्तंभ पर घट पल्लव का सुंदर अंकन उत्कीर्ण है। निर्माण काल 7-8वीं शताब्दी का है। पाषाण-श्वेत-रेत युक्त पाषाण है।

सन्दर्भ :

1. अबुल फजल, आइन-ए-अकबरी (अ.अ. ब्लाक मेन और जेरेट) खण्ड 2 पृष्ठ 208, प्रथम संस्करण। **2.** डा. रघुवीर सिंह, रतलाम का प्रथम राज्य, पृष्ठ 17। **3.** डा. मनोहर सिंह राणावत, सीतामऊ लधूना के शिलालेख- भूमिका पृष्ठ संख्या 2-17 प्रथम संस्करण-1990।

2/48, गणेशतालाब, बसन्त बिहार
कोटा 324009 (राज.) फोन -0744-24025991

(गतवर्ष वारिदजी का देहांत हो गया, आप वैचारिकी से बराबर जुड़े रहे, सादर स्मरण। -सम्पादक) ▫▫

डूंगरपुर का मूर्ति-कला उद्योग

महेश पुरोहित

दक्षिणी राजस्थान के वागड़ क्षेत्र के डूंगरपुर में मूर्ति-निर्माण-कला अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंची। यहां धातु की लघु मध्यम और विशाल आकारों की मनमोहक मूर्तियां ढाली जाती थीं। जावर क्षेत्र पहले वागड़ का अंग था जहां धातु की खानें हैं। इस कारण धातु की मूर्तियों के उद्योग का डूंगरपुर में पनपना और विकसित होना स्वाभाविक था। आबू पर्वत पर अचलगढ़ के जैन मंदिर की कुछ प्रतिमाएं डूंगरपुर में बनी हैं जिनमें भगवान आदिनाथ का पद्मासन में छह फीट ऊँचा विशाल और भव्य बिंब भी है। उदयपुर के दिल्ली दरवाजे के पास ऋषभदेव जी के मंदिर में प्रतिष्ठित धातु की मूर्ति एवं डूंगरपुर के पीतांबरराय की धातु की मूर्ति एवं परिकर यहीं ढले हैं। भिनाय के जैन मंदिर में वि.सं. 1505 और घाट (जयपुर) के जैन मंदिर में वि.सं. 1516 की मूर्तियां डूंगरपुर में बनी हैं।[1] चौदहवीं से सोलहवीं शताब्दी में निर्मित यहां की धातु की छोटी मूर्तियां मंदिरों के साथ घरों में भी पूजी जा रही हैं। गुजरात के सुरेन्द्र नगर जिले में लख्तर नामक पूर्व रियासत के लख्तर पैलेस के अन्तर्गत एक हवेली में डूंगरपुर में लगभग 379 वर्ष पहले ढली पंचधातु की राधा-कृष्ण की प्रतिमा, डूंगरपुर राज्य के भानजे वजेराजजी झाला ने साल 1639 में स्थापित करवाई थी। इसकी नियमित रूप से पूजा-अर्चना होती है तथा राजपरिवार के सदस्य प्रातःकाल इनके दर्शन कर अपना दिन का काम शुरू करते हैं। धातु के ही रथ-मंदिर का निर्माण डूंगरपुर में होता था। डूंगरपुर में निवास करने वाले कंसारा जाति के शिल्पी धातुओं के सही अनुपात में मिश्रण के साथ-साथ मूर्ति शास्त्र के अनुसार भक्तिभाव जगाने वाली सुघड़ मूर्तियां बनाने में सिद्धहस्त थे।

डूंगरपुर में पारेवा पत्थर प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। यह पत्थर हरे-नीले रंग का दानेदार और नरम होता है। सैयद सफदर हुसैन खाँ ने सन 1854 ई. में इस संबंध में लिखा है- इस इलाके से दो चीज जियादातर बेरुंजात को जाती हैं ... दूसरा संगे शीर माइलब सियाही, उसको यहाँ संगे पारेवा बोलते हैं और उसकी कान बमौजा झाकोल वो मातूगामड़ा वगैरह इलाका डूंगरपुर में बफासला दो कोस अज डूंगरपुर वाके है और संग मजकूर से बकसरत मूरत तय्यार होती है और सरहा फकीर हिन्दू यहाँ से हर एक मूल्क को वास्ते मंदिरों के मोल ले जाते हैं और अकसर उमरा लोग वास्ते तामीर मकानात कीमत भेज कर मंगाते हैं और प्याला वो तशतरी वगैरह अशयाये खूबसूरत मैमारान बना कर फरोख्त करते हैं हालांके साहिबाने आलीशान मूर्ते छोटी-छोटी मिस्ल बैल-नाँदिया वो शेर वगैरह के बनवा कर मंगाते हैं और वो मूरतें दबाने कागज के वकार आती हैं।[2] इस कारण यह पत्थर विभिन्न प्रकार के कलात्मक आरेखन, सुघड़ आकृतियाँ, सुन्दर जालियाँ, जीवन्त फूल-पत्तियां, तोरण-मेहराब, मूर्तियां आदि बनाने के लिए उपयुक्त है। घी या तेल की मालिश करने पर इस पत्थर का रंग काला हो जाता है। डूंगरपुर के शिल्पियों ने इस

सम्पदा का भरपूर उपयोग कर अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा, कला - प्रियता और आस्था को मूर्त रूप दिया है। विशेषकर मूर्ति-कला-उद्योग से जुड़े शिल्पी कम से कम छठी शताब्दी से लेकर आज तक अपना इहलोक सुधारने के साथ-साथ समाज को अपना परलोक सुधारने के साधन उपलब्ध करवा कर उपकृत कर रहे हैं।

श्री आर. सी. अग्रवाल के अनुसार गुप्तोत्तर काल और आरंभिक मध्यकाल में पारेवा पत्थर से बनाई जाने वाली मूर्तियों का उद्योग डूंगरपुर में बहुत विकसित अवस्था में था। उस काल में डूंगरपुर में बनाई हुई मूर्तियां राजस्थान और गुजरात के विभिन्न भागों में गई थीं। धूलेव-ऋषभदेव, कल्याणपुर, जगत, केजड़, छोटा-बेदला, नगर, आबू, आभानेरी, सिरोही, शामलाजी, देव-नी-मोरी, रोड़ा तथा डूंगरपुर जिले के आमझरा और हथाई आदि स्थानों से श्री आर. सी. अग्रवाल ने उक्त काल की मूर्तियां खोज निकाली हैं।

इन मूर्तियों में आमझरा की कौमारी और ऐन्द्री की छठी शताब्दी की तथा पद्मपाणि यक्ष, वैष्णवी, वीणाधर-शिव, चामुंडा, गणेश की गुप्तोत्तर काल की व महिषासुरमर्दिनी की आठवीं शताब्दी की, हथाई की विष्णु के नृ-वराह अवतार और खड़े स्कन्द कुमार की गुप्तोत्तर काल की, नगर के बुलपुरा तालाब की विष्णु की सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की, छोटा बेदला के हरिहर की आठवीं शताब्दी की और धूलेव ऋषभदेव की विष्णु की आदमकद प्रतिमा आठवीं-नवीं शताब्दी की हैं, आमझरा और शामलाजी की मूर्तियां मिलती जुलती हैं। वीणाधर शिव की प्रतिमा राजस्थान में उपलब्ध वीणाधर शिव की प्रतिमाओं में प्राचीनतम है। इस क्षेत्र में बनी छठी शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक की मूर्तियों के कारण राजमाता देवेन्द्र कुंवर राजकीय संग्रहालय एवं कला केन्द्र डूंगरपुर अब विश्व के कला-मानचित्र पर आ गया है।[3]

मेवाड़ के इष्टदेव श्री एकलिंगजी की वर्तमान मूर्ति डूंगरपुर से ही गई थी। धूलेव गांव या केसरियाजी में स्थित श्री ऋषभदेवजी की विश्व प्रसिद्ध मूर्ति डूंगरपुर वटपद्रक (बड़ौदा गांव) से गई थी। कर्नल जेम्स टॉड के पश्चिम भारत की यात्रा के वर्णन में उल्लेख है कि आबू के मंदिर में श्यामजी की विशाल मूर्ति डूंगरपुर की है। गुजरात में पाकिस्तान की सीमा पर स्थित धरणीधर की प्रतिमा डूंगरपुर में निर्मित हुई है। उदयपुर के प्रसिद्ध जगदीश मन्दिर में बोर्ड पर दी गई सूचना के अनुसार भगवान जगदीश जी की मूर्ति डूंगरपुर के शिलाखंड की है। हिन्दुओं के चार पवित्र यात्रा धामों में से एक द्वारका के त्रैलोक्य सुन्दर जगत् मन्दिर में चौपनवें शंकराचार्य श्री अनिरुद्धाचार्य महाराज (वि. सं. 1625) ने डूंगरपुर से ले जाकर भगवान श्री द्वारकाधीशजी की मूर्ति की प्रतिष्ठा करवाई थी[4]। उस समय डूंगरपुर पर महारावल आसकरण का शासन था जिन्होंने डूंगरपुर में वि.सं. 1617 में श्री द्वारकाधीश का मन्दिर बनवाया था। देवगढ़ के मंदिरों में पूजी जाने वाली श्री गोवर्धननाथजी और मुरलीधरजी की मूर्तियां डूंगरपुर के सोमपुरा बनजी ने बनाई थीं। सन 1840 ई. से 1887 ई. के बीच डूंगरपुर में घड़ी गई विभिन्न देवी-देवताओं की मूर्तियां उज्जैन, कोटा, वृन्दावन, मथुरा, प्रयागराज, जगन्नाथपुरी, नेपाल, मुम्बई, अयोध्या, डाकोर, कपड़वंज, भड़ौंच, आणंद, वड़ोदरा, ईडर, गिरनार, द्वारका, सिरोही, रतलाम, इन्दौर, जैसलमेर, जोधपुर, नाथद्वारा, नासिक आदि स्थानों पर गई थीं। यह उल्लेख केवल राज्य के माध्यम से साधुओं और ब्राह्मणों को दी गई मूर्तियों के आधार पर है। शास्त्रों में दिए विधान का पूरी तरह से पालन करते हुए यहाँ के मूर्तिकारों ने मूर्ति निर्माण में अपनी कल्पना और नव-सृजन की अपनी प्रतिभा व क्षमता का भरपूर उपयोग किया है।

डूंगरपुर में पारेवा पत्थर की खानों के साथ-साथ सफेद, गुलाबी और हरे पत्थर की खानें भी हैं। जिनकी जानकारी यहां के शिल्पियों को थी। शिल्पियों ने इन पत्थरों का कलात्मक अलंकरण और खिलौने बनाने के लिए भी उपयोग किया। इन पत्थरों से खम्भे और तोरण बनाए। गुजरात के मेहसाणा जिले के महुड़ी गांव में लक्ष्मी की मूर्ति का पत्थर का सिंहासन डूंगरपुर में बना था। डूंगरपुर के लक्ष्मीचंद सोमपुरा ने पत्थर की नाव बनाई थी जो पानी पर तैरती थी। डूंगरपुर में आई पहली मोटरकार की इनकी बनाई पत्थर की अनुकृति की सबने सराहना की थी। बाजार में मिलने वाले खिलौनों की पत्थर की अनुकृतियां बना कर भेंट करना इनका शौक था। भूधर सोमपुरा ने घर में रखने के लिए 2'.6" गुणा 1'.10" गुणा 1'.6" का लघु आकार का पूर्ण मंदिर बनाकर अपनी

सर्जनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया था। इनके पुत्र डूंगर सोमपुरा देवी-देवताओं की मूर्तियों के साथ-साथ पशुओं की जीवन्त आकृतियां घड़ने में निष्णात थे। इनकी बनाई पारेवा पत्थर की कलात्मक टेबल-कुर्सी उदय विलास महल में रखी है। मुम्बई का छत्रपति शिवाजी (वीटी) स्टेशन, मध्य रेलवे का प्रधान कार्यालय और इसके मुख्य द्वार पर लगे दोनों शेर, अहमदाबाद में सेठ हठीसिंह की बाड़ी, आदि जब तक हैं, कम-से-कम तब तक तो डूंगरपुर के गुलाबजी सोमपुरा का नाम भुलाया नहीं जा सकेगा। इन्होंने जूं के आकार की पत्थर की जूं बाह्य अंग प्रत्यंगों सहित बना कर वायसराय को भेंट की थी। इसी कड़ी में सुखलाल सोमपुरा का नाम भी आदर से लिया जाता है, जिन्होंने उदय विलास महल में स्थित और अब विश्व प्रसिद्ध एक-खम्भा महल बनाया। सोमपुरा प्रेमचंद की बनाई गोखड़ी और पारेवा पत्थर की जाली सन् 1837 ई. में देवगढ़ (बारिया, गुजरात) भेजी गई थी।

डूंगरपुर के सोमपुरा जातीय शिल्पी उपहार में देने के लिए पारेवा पत्थर की चिलमें (पाइप) बनाते थे, पारेवा पत्थर से ही पासे, खूंटियां, हांडियां, प्याले-प्यालियां, तश्तरी, गिलास जैसी चीजें बनाते थे। इसी पत्थर से कुर्सी पर बैठा आदमी, बंदूक लिये आदमी, ढाल-तलवार से लैस आदमी, साधु आदि बनाते थे। पशु-पक्षियों में हाथी, घोड़ा, मेढ़ा, शेर, सियार, कुत्ता, बंदर, पानी पीता हाथी, दूध पीते पाड़े के साथ भैंस, मोर आदि बनाते थे। सफेद पत्थर से हांडियां, प्याले, खरल व बत्ता, तश्तरी आदि बनाते थे। हरे पत्थर से भी हांडियाँ, गिलास, प्याले, तश्तरी आदि घड़ते थे। ये खिलौने खैरवाड़ा, नीमच, देवगढ़ आदि स्थानों पर तैनात अंग्रेज अधिकारियों व उनके कर्मचारियों के लिए राज्य की ओर से भेजे जाते थे। मार्च, 1871 ई. में ऐसे ही कुछ खिलौने सीधे विलायत भेजे गए थे। इस प्रकार के खिलौने बनाने वाले सोमपुरा शिल्पियों में सुखलाल, प्रताप, प्रेमचंद, नाथूलाल, त्रीकम, भगवान, भाईचंद, ईजतराम, भूधर, भगु, हिम्मतराम, आदित्यराम, बापूलाल, दौला, गेला, धूलजी, लालजी प्रमुख थे।

केवल 19वीं शताब्दी में ही बाहर भेजी गई डूंगरपुर में बनी मूर्तियों की निम्नांकित सारणी से डूंगरपुर में बनी कलात्मक मूर्तियों की लोकप्रियता विदित हो जाती है।[5]

1	2	3	4	5	6	7
जहां भेजी गई	**मूर्ति का नाम**	**माप**	**न्यौछावर**	**कौन ले गया**	**कब ले गया**	**शिल्पी**
देवगढ़ (बारिया, गुजरात)	श्री मुरलीधरजी	-	रु. 2/-	खाखी बाबाजी	1840 ई.	प्रेमचन्द
देवगढ़ (बारिया, गुजरात)	श्री नाथ जी	-	रु. 5/-	-	1850 ई.	-
बांसवाड़ा	नृसिंह जी	-	रु. 6/-	खाखी बाबा	1847 ई.	-
गनोड़ा	मावजी का घोड़ा	-	रु. 5/-	मीठी ब्राह्मणी	मार्च, 1869 ई.	कल्याण
बांसवाड़ा	कृष्ण कन्हैया	-	रु. 4/-	बाबा जी	दिसम्बर, 1870 ई.	थावरचन्द
बांसवाड़ा	ठकराणी	-	रु. 3/-	बाबा जी	दिसम्बर, 1870 ई.	थावरचन्द
नेपाल	श्री मुरलीधरजी	पौन गज दो अंगुल	रु. 19/-	बाबा जी	अगस्त, 1883 ई.	सुखलाल
नेपाल	श्री मुरलीधरजी	-	रु. 19/-	बाबा जी	अगस्त, 1886 ई.	सुखलाल
मुम्बई	पार्वती जी	एक गज दो अंगुल	रु. 19/-	सेठ प्रभुनाथ प्राण जीवनदास	अगस्त, 1883 ई.	सुखलाल
मुम्बई	गणपति जी	पौन गज तीन अंगुल	रु. 21/-	प्राण जीवनदास	अगस्त, 1887 ई.	सुखलाल
अयोध्या	श्री राधा-कृष्ण	-	रु. 13/-	बाबा जी	अप्रैल, 1864 ई.	भूधर
अयोध्या	दो मूर्तियां	1गज 9अंकुल पौन गज 1अंगुल	रु. 13/-	बाबा जी	फरवरी, 1886 ई.	धूलजी
डाकोर	श्री राम-लक्ष्मण	-	रु. 15/-	बाबा लक्ष्मणदास	फरवरी, 1865 ई.	सवलाल
डाकोर	श्री नृसिंहजी	-	रु. 10/-	बाबा बलभद्रदास	जून, 1865 ई.	ईजतराम
डाकोर	श्री ब्रह्माजी	-	रु. 16/-	बाबा बलभद्रदास	जून, 1865 ई.	ईजतराम
डाकोर	श्री शेषशायी विष्णु	-	रु. 12/-	बाबा बलभद्रदास	जून, 1865 ई.	ईजतराम

डाकोर	श्री रधुनाथजी श्री हनुमानजी	-	रु. 50/-	खाखी शिवरामदास	मई, 1874 ई.	धूलजी, मुलकचन्द
डाकोर	श्री चतुर्भुजजी	एक गज	रु. 21/-	बाबा सीतारामदास	जुलाई, 1881 ई.	-
डाकोर	श्री गरूड़जी	आधा गज	रु. 10/-	बाबा सीतारामदास	जुलाई, 1881 ई.	-
डाकोर	श्री रणछोड़जी	पौन गज	रु. 59/-	बाबा जी	जुलाई, 1885 ई.	लक्ष्मीचंद-आदित्यराम
डाकोर	श्री गरूड़जी	पौन-गज दो-अंगुल	रु. 17/-	बाबा जी	जुलाई, 1885 ई.	लक्ष्मीचंद-आदित्यराम
डाकोर के पास गांव	चतुर्भुजजी- गरूड़जी	सवा 2 गज 21 अंगुल	रु.100/-	बाबा गोकुलदास	फरवरी, 1867 ई.	भगु
डाकोर	श्री नृसिंहजी	-	रु. 15/-	साधु	जनवरी, 1881 ई.	ईजतराम
	श्रीशेषशायी विष्णु	-	रु. 16/-	साधु	जनवरी, 1881	भाईचन्द
उज्जैन	रधुनाथजी-गरुड़जी	-	रु. 27/-	बाबाजी	फरवरी, 1865	प्रताप
उज्जैन	श्री रामचन्द्रजी	-	रु. 5/-	रघुवरदास, सरजुदास आदि	अप्रैल,1869	भाईचंद उज्जैन
	श्री लक्ष्मणजी	-	रु. 4/-	रघुवरदास, सरजुदास आदि	अप्रैल,1869	भाईचंद
उज्जैन	श्री चारभुजाजी	-	रु. 4/-	रघुवरदास, सरजुदास आदि	अप्रैल,1869	भाईचंद
कोटा	श्री चतुर्भुजजी	-	रु. 14/-	ब्राह्मण	अप्रैल,1864	ईजतराम
वृन्दावन	श्री नाथजी	-	रु. साढे पांच	बाबाजी	जून,1865	भगवान
मथुरा	कन्हैयाजी-गरुड़जी	पौन गज एक अंगुल	रु. 21/- रु. 25/-	ब्राह्मण	दिसम्बर, 1887	सुखलाल
नर्मदा किनारा	दो मूर्ति	पौन गज एक अंगुल	रु. 15/-	वैरागी नारायणदास	दिसम्बर, 1865	भगवान
प्रयागराज	श्रीराधाकृष्णजी	सवा गज	रु. 12/-	बाबा किशनदास	मई, 1869	गेला
	श्री ठकुराणीजी	पौन गज	-	बाबाकिशनदास	मई, 1869	भूधर
जगन्नाथ (पुरी)	श्रीकृष्ण	आधा गज एक अंगुल	रु. साढ़े तीन	खाखी बाबा वृंदावनदास	जून, 1873	-
उदयपुर	श्रीकृष्णजी	-	रु. 4/-	पालीवाल खेमराज	अक्टूबर, 1875	धूरजी
उदयपुर	श्री चारभुजाजी	-	-	-	जुलाई, 1880	-
उदयपुर	श्री पार्वती और नंद के वर	-	रु. ढाई	श्रीमाली टेकचंद	अगस्त, 1880	समता
हमीरगढ़ (मेवाड़)	श्री रघुनाथजी- श्रीलक्ष्मीजी	-	रु. 12/-	बाबाजी	मार्च, 1866	प्रताप
बामेड़ा (मेवाड़)	श्रीकृष्णजी -राधिकाजी	-	रु. 37/-	बाबा किशनदास	दिसम्बर,1867	प्रताप
भींडर	श्री रणछोडजी	-	रु. 15/-	बाबा गुलाबदास	जुलाई, 1868	प्रताप वो भावना
भींडर	श्री लक्ष्मीनारायणजी	-	रु. 12/-	बाबा गुलाबदास	अप्रैल, 1870	कल्याण
भींडर	श्री मुरलधरजी	-	रु. 14/-	बाबा प्रियादास	दिसम्बर, 1873	लालजी
भींडर	श्री मुरलधरजी	-	रु. 14/-	ओंकार जोशी	दिसम्बर, 1873	प्रताप
भीलाड़ा (मेवाड़)	श्री चतुर्भुजजी	पौन गज 5 अंगुल	रु. 14/-	-	अक्टूबर, 1873	थावरचंद
सुलवाड़ा (मेवाड़)	श्री गोवर्धननाथजी	पौन गज 3 अंगुल	रु. 16/-	वैरागी भूरामदास	मार्च, 1874	ईजतराम
जहाजपुर (मेवाड़)	श्री रणछोड़जी	पौन गज	रु. 10/-	ब्राह्मण प्रताप	अक्टूबर, 1874	प्रताप
कुरावड़ (मेवाड़)	रघुनाथजी-जानकीजी	-	रु. 5/-	बाबा लालदास	जून, 1875	थावरचंद
सेंगरेव (मेवाड़)	श्री चतुर्भुजजी	एक गज	रु. 16/-	ब्राह्मण नंदराम	जनवरी, 1876	सुखलाल
लूनावाड़ा	श्री रघुनाथजी	-	रु. 9/-	बाबा सेवादास	मार्च, 1866	भगवान
लूनावाड़ा	श्री जानकीजी	-	रु. 7/-	बाबा सेवादास	मार्च, 1866	भगवान
लूनावाड़ा	श्री लक्ष्मणजी	-	रु. 7/-	बाबा सेवादास	मार्च, 1866	भगवान
लूनावाड़ा	श्री रणछोड़जी	एक गज	रु. 12/-	बाबा जी	नवम्बर, 1876	प्रताप
कपड़वंज	श्री रणछोड़जी	एक गज छह अंगुल	रु. 35/-	बाबा नारायणदास	अप्रैल, 1866	थावरचंद
कपड़वंज	श्री चारभुजाजी	-	रु. 25/-	तरवारी कुबेर	दिसम्बर, 1874	भवना
भडौच	श्री चतुर्भुजाजी	डेढ़ गज	रु. 30/-	बाबा वंशीदास	जून, 1869	प्रताप

आणंद	श्री कृष्णजी	एक गज एक अंगुल	रु. 11/-	बाबाजी	जून, 1869	रणछोड़
बडोदरा	श्री रणछोड़जी	डेढ़ गज	रु. 40/-	बाबाजी	जून, 1873	-
ईडर	श्रीकृष्णजी-श्रीराधाजी	-	रु. 4/-	बाबा नारायणदास	अगस्त, 1871	थावरचंद
बोड़ली (ईडर)	-	-	रु. 42/-	बाबा बकरीदास	मार्च, 1868	प्रताप
	हनुमानजी	सवा गज	रु. 20/-	बाबा बकरीदास	मार्च, 1868	प्रताप
	रघुनाथजी		रु. 18/-	बाबा बकरीदास	मार्च, 1868	प्रताप
	गरूड़जी	-	रु. 4/-			
भेलुड़ा (ईडर)	श्री रघुनाथजी	पौन गज	रु. 7/-	ब्रह्मचारी स्वरूपदान	अक्टूबर, 1873	दोला
रूपाल	श्री राधाकृष्णजी	-	रु. 20/-	बाबा ईश्वरदास	अप्रैल, 1866	भगवान
वगोल (रूपनगर)	श्री कृष्णजी	-	रु. 4/-	साधु हरिदास और हेमदास	अप्रैल, 1867	-
	श्री रामचन्द्रजी	-	रु. 2/-	साधु हरिदास और हेमदास	अप्रैल, 1867	-
	श्री चारभुजाजी	-	रु. 1/-	साधु हरिदास और हेमदास	अप्रैल, 1867	-
	श्री लक्ष्मणजी	-	रु. डेढ़	साधु हरिदास और हेमदास	अप्रैल, 1867	-
देवगांम	श्री चतुर्भुजजी	-	रु. 5/-	बाबा देबदास	जून, 1867	प्रताप
गांव पीपलादे	श्रीनाथजी- ठकराणीजी	-	रु. 4/-,4/-ह प	अमरनाथ	मार्च, 1868	-
वाडासेदोल	रणछोड़जी-जानकीजी	डेढ़गज 3अंगुल, 1गज 2अंगुल	रु. 65/-	वैरागी रघुवरदास	नवम्बर, 1870	प्रताप
अमनगर	श्रीकृष्ण (चतुर्भुज)	एक गज	रु. 15/-	बाबा रामदास	जून, 1875	भाईचन्द
	श्री ठकराणीजी	गज 1 में 3 अंगुल कम	रु. 8/-	बाबा रघुनाथ वैरागी	जून, 1875	भगवान
गोहाथणी (काठियावाड)	मूर्ति	1 गज 1 अंगुल	रु. 22/-	बाबा बालकदास	सितम्बर, 1876	प्रताप
गिरनार	श्री मुरलीधरजी	-	सवा रुपया	बाबा हरिदास	दिसम्बर, 1871	गेला
गिरनार	श्री श्यामलाजी	अंगुल 13	रु. 4/-	वैरागी हरिसिद्धदास	जून, 1872	सुखलाल
कोठारिया	श्री रणछोड़जी	डेढ़ गज	रु. 30/-	बाबा बिहारीदास	जून, 1873	-
कोठारिया	श्री गरूड़जी	आधा गज	रु. 4/-	बाबा बिहारीदास	जून, 1873	-
बेट द्वारका	श्री चतुर्भुजजी	सवा गज	रु. 30/-	बाबा रामस्वरूप	जुलाई, 1873	प्रताप
द्वारका	श्री त्रिविक्रमराय	-	रु. 101/-	ब्राह्मण जाधवजी	मई, 1884	बापूलाल
द्वारका	श्री गरूड़जी	-	रु. 17/-	ब्राह्मण जाधवजी	मई, 1884	लक्ष्मीराम
गीराज मानसी गंगावाला	श्री गोवर्धननाथजी	1गज व 9अंगुल	रु. 21/-	सनाढ्य ब्राह्मण हरगोविंद सुंदरलाल	फरवरी, 1872	प्रताप
सीहोड़ छावनी	श्री रघुनाथजी	डेढ़ गज	रु. 27/-	शास्त्री गोविंददास	जून, 1877	पुरुषोत्तम
सीहोड़ छावनी	श्री रणछोड़जी	एक गज	रु. 10/-	शास्त्री गोविंददास	जून, 1877	दोला
सीहोड़ छावनी	श्री गरुड़जी	आधा गज	रु. 4/-	शास्त्री गोविंददास	जून, 1877	बापूलाल
उमरेड	श्री रणछोड़जी	पौन गज	रु. 11/-	ब्राह्मण रामचन्द्र	नवम्बर, 1881	-
आऊवा	श्री चतुर्भुजजी	सवा गज	रु. 31/-	ब्राह्मण शालिगराम	जनवरी, 1881	बापूलाल व प्रताप
सरहुई	श्री राधाकृष्णजी	-	रु. 5/-	बाबा देवीदास	अप्रैल, 1868	भवना
सिरोही	श्री चारभुजाजी	-	रु.12/- आना दस	बाबा देवीदास	अप्रैल, 1880	कोदर
सिरोही	श्री राधाकृष्णजी	-	रु. 4/-	बाबा देवीदास	अप्रैल, 1868	भवना
रतलाम	श्री राधिकाजी	अंगुल 11	रु. 1/-	ब्राह्मण	अप्रैल, 1875	-
रतलाम	श्री चतुर्भुजरायजी	-	रु. 9/-	बाबा जानकीदास	मई, 1875	कल्याण
रतलाल	श्री शनिश्चरजी	-	रु. 37/-	ब्राह्मण	मार्च, 1885	-

इन्दौर	श्री नृसिंहजी अष्टभुजा	अंगुल 15	रु. 4/- आना बारह	परमेश्वरदासजी	मई, 1869	सुखलाल
इन्दौर	श्री जानकीजी	-	रु. डेढ़	वैरागी उदयराम	सितम्बर, 1870	प्रताप
जावरा	श्री मुरलीधरजी	-	रु. 4/-	बाबा गोविंदराम	सितम्बर, 1872	त्रिकम
जैलसमेर	श्री माताजी अष्टभुजाजी	-	रु. 20/-	-	फरवरी, 1886	बापूलाल
ढाणी (जैसलमेर)	श्री त्रिविक्रमरायजी	एक गज	रु. साढे चौदह	वैरागी गोविंददास	अप्रैल, 1874	बापूलाल
	श्री कल्याण कुंवर	एक गज	रु. साढे-चौदह	वैरागी गोविंददास	अप्रैल 1874	बापूलाल
गुडुस (जोधपुर)	श्री लक्ष्मीनारायणजी		रु. 13/-	ब्राह्मण थाना(थानेश्वर)	अगस्त, 1874	प्रताप
जेथा (जोधपुर)	रघुनाथजी-ठकराणीजी	अंगुल-7	रु. 8/-	बाबा लक्ष्मणदास	मई, 1875	प्रताप
	श्री कृष्णजी व राधिकाजी	-	रु. 8/-	बाबा लक्ष्मणदास	मई, 1875	सवलाल
नाथद्वारा	श्री गोवर्धननाथजी	-	रु. 25/-	बाबा अलंगदास	मार्च, 1885	सुखलाल
वालेई (गोडवाड)	श्री मुरलीधरजी	-	रु. 6/-	ब्राह्मण दोला	अप्रैल, 1874	थावरचंद
नासिक ज्यंबक	-	-	रु. 15/-	बाबा रामरतनदास	अप्रैल, 1877	-
नासिक तपोवन	श्री रघुनाथजी	एक गज	रु. 12/-	साधु	जून, 1877	प्रताप
	श्री ठकुराणीजी	एक गज	रु. 26/-	साधु	जून, 1877	प्रताप
	श्री हनुमानजी	अंगुल 16	रु. 8/-	साधु	जून, 1877	प्रताप
	श्री लक्ष्मणजी (गौरवर्ण)	-	रु. 27/-	साधु	जून, 1877	प्रताप
पंजाब	श्री कालिका माताजी		रु. 35/-	वैरागी भगवानदास	जनवरी, 1878	सुखलाल
	श्री कृष्णजी	-	रु. 25/-	वैरागी भगवानदास	जनवरी, 1878	सुखलाल
कतीसोर	श्री पार्वतीजी	-	रु. 7/-	गुसाई गुसालवांन	अगस्त, 1871	प्रताप

पैमाना : (क) एक गज = 2 फीट (24 इंच), एक इंच = 8 दोरे, एक अंगुल 1 इंच (ख) तीन पाई = एक पैसा, चार पैसे = एक आना, चार आना = एक चवन्नी, आठ आना = एक अठन्नी, सोलह आना = एक रुपया।

सन्दर्भ :

1 (अ) डूंगरपुर राज्य पत्र (क) 05.01.1941 ई., (ख) 05.06.1941 ई.पृ. 12, (ग) 05.01.1942 ई.पृ. 103, (घ) 05.10.1943 ई.। (ब) R.V. Somani, Jain Inscriptions of Rajasthan, 1982, P. 132-133* 2. (i) सैयद सफदर हुसैन खाँ, नकल तवारीख रियासत डूंगरपुर, 1854 ई., पृ. 21-22, (ii) डी. ओ. 96, महारावल विजयसिंह शोध अभिलेखागार, डूंगरपुर। 3. Shri R.C. Agarwal - (i) Some Unpublished sculptures from Southwestern Rajasthan, Lalit Kala, No. 6, P. 63-71. (ii) Some More Unpublished sculptures from Rajasthan, Lalit Kala, No. 10, P. 31-33. 4. दिव्य द्वारका, सं. महामहोपाध्याय प्रो. जयप्रकाश नारायण द्विवेदी, निदेशक- श्री द्वारकाधीश संस्कृत एकेडेमी द्वारका, जामनगर गुजरात, तृतीयावृत्ति, 2010 ई. पृ. 24, 53* 5. (i) D. O. 28, Daily Transaction of cash, deposit and loans, Final entry of the day 1840-1840A. D. (ii) D.O. 3, Receipts & Expenditure of the produce of the State, 1847-48A.D. (iii) D. O. 4, Receipts & Expenditure of the produce of the State, 1850 A.D. (iv) D. O. 43, Accounts from the treasurer etc. Ledger Book, July 1886 Oct. 1887, A. D. (v) D.O. 105, Accounts of Expenditure of the State through Soorma Galal Singh, 1835-1838 A.D. (vi) D.O. 61 House Hold, Expenditure about the Palace, Jan. 1864 Dec. 1867 A.D. (vii) D. O. 61, House Hold, Total Income & Expenditure of the Palace, Jan. 1868-Feb. 1871 A.D (viii) D. O. 61 House hold, Palace Accounts, March 1871-March 1875 A.D. (ix) D. O. 62,House Hold, Palace Accounts, April 1875-oct 1879 A.D. (x) D. O. 62, House Hold, Palace Accounts, Nov. 1879 Dec.-1883 A.D. (xi) D.O. 62, House Hold, Palace Accounts, Jan. 1884 - Oct. 1887A.D.

देवेन्द्र बालिका उ.मा. विद्यालय के पास
हनुमतपोल,
डूंगरपुर (राज.)-314001

❐❐

आंध्र प्रदेश की सांस्कृतिक संरचना

डॉ. अनुपमा तिवारी

आंध्र प्रदेश अपनी विशालता, ऐतिहासिकता, पौराणिकता और सामाजिक समरसता के कारण विख्यात है, जिनमें से अब तेलंगाना नाम से अलग प्रांत बना दिया गया है। विभाजन से पूर्व, विस्तार की दृष्टि से आंध्र प्रदेश भारत का पाँचवाँ बड़ा राज्य था। इसके पूरब में बंगाल की खाड़ी, पश्चिम में कर्नाटक व महाराष्ट्र राज्य, उत्तर में मध्य प्रदेश और ओड़िशा दक्षिण में तमिलनाडु राज्य हैं। छःसौ मील समुद्र तटीय क्षेत्र युक्त आंध्र प्रदेश, भारत के उत्तरी तथा दक्षिण क्षेत्रों के बीच का सेतु है। आंध्र नामक जाति को निवास स्थान होने से इसका नाम आंध्र प्रदेश हुआ। आंध्र जाति का उल्लेख वैदिक साहित्य में भी पाया जाता है। ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में तथा रामायण व महाभारत में आन्ध्रों के बारे में लिखा हुआ है। महाभारत में 'आंध्रश्चभवहः' की परिभाषा यह सूचित करती है कि भिन्न जातियों के संयोग से आंध्र जाति का आविर्भाव हुआ था और उसी जाती के आधार पर इस प्रदेश का नाम आंध्र प्रदेश पड़ा। आंध्र प्रदेश एक समय मंजीर देश, वज्र देश, त्रिलिंग भूमि आदि संज्ञाओं से विभूषित था। इसकी मंजीरा नदी गोदावरी नदी की सहायक नदी है। बालाघाट के पहाड़ों से निकलती हुई यह गोदावरी नदी में मिलती है। इस कारण बौद्ध युग में इसे मंजीर देश के नाम से जाना जाता था। प्राचीन काल से ही आंध्र प्रदेश में हीरे अधिक मात्रा में पाये जाते थे, इसीलिए इसे वज्रदेश (हीरों का देश) के नाम से जाना गया। भारत के तीन प्रसिद्ध शैव क्षेत्र श्रीशैलम्, कालेश्वर तथा द्राक्षरामम् आंध्र राज्य में ही हैं, जिसके कारण इस क्षेत्र का त्रिलिंगभूमि नाम प्रसिद्ध हुआ। बौद्ध ग्रन्थों में इस क्षेत्र के लिए सिंहल द्वीप, नाग द्वीप व रत्नद्वीप आदि नाम भी प्रयुक्त हुए हैं।

आंध्र राज्य का इतिहास : आंध्र राज्य का इतिहास शातवाहनों से आरंभ होता है, जिनका समय ई.पू. 220 से ई. 200 तक माना जाता है। अपने सुदीर्घ शासन काल में शातवाहनों ने आंध्र राज्य को सुव्यवस्थित बनाया। शातवाहनों के समय में ही आंध्र में आर्य व द्रविड़ संस्कृतियों का अपूर्व संगम हुआ था। शातवाहनों के बाद आंध्र में इक्ष्वाकु, चोल, चालुक्य, पल्लव, काकतीय, विजयनगर (कर्नाटक) राजाओं का शासन रहा। काकतीयों के समय 14वीं शताब्दी में मुसलमानों का प्रवेश हुआ। इनके आगमन के पश्चात कुतुबशाही तथा असफ़जाहियों के शासन रहे। हैदराबाद के वारंगल, गोलकोंडा, चारमीनार, मक्का मस्जिद आदि स्मारक उस समय के शासकों के वैभव को आज भी दर्शाते हैं। इस प्रकार आंध्र में विभिन्न संस्कृतियों का सम्मिश्रण हुआ जिसमें विविधता में एकता परिलक्षित होती है।

आंध्र प्रदेश में धार्मिक प्रभाव : धार्मिक रूप से यहां वैविध्य है। यहाँ वैदिक, बौद्ध, जैन, इस्लाम, सिख, ईसाई धर्मों के अलावा ब्रह्म समाज तथा आर्य समाज अपने अपने वैभव के साथ विराजमान हैं। दक्षिण भारत में अपनी संस्कृति का प्रचार व प्रसार करते समय आर्यों को

अनिवार्य रूप से आंध्र प्रदेश से ही गुजरना पड़ा था। इस प्रदेश में ई. 300 तक बौद्ध–संस्कृति का प्रचलन रहा। आंध्र के तटीय क्षेत्र से होकर ही बौद्ध-धर्म ने विदेशों में अपना कदम रखा था। आंध्र के अमरावती तथा नागार्जुन पहाड़ विश्व प्रसिद्ध बौद्ध केंद्र थे, जहां पर विदेशी छात्र बड़ी संख्या में शिक्षा प्राप्त करने आते थे। बौद्ध संस्कृति के साथ ही जैन संस्कृति ने भी आंध्र पर अपना प्रभाव छोड़ा। मलिक काफर के आक्रमण से आंध्र में इस्लाम धर्म का आरंभ हुआ। इस राज्य में सभी धर्मों को समान आदर और सम्मान प्राप्त है।

आंध्र का साहित्य : आंध्र प्रदेश की राजभाषा तेलुगु है और यह द्रविण या द्रविड़ परिवार की भाषा है, जो एक 'स्वरांत' भाषा है। श्री कृष्णदेव राय ने अपने विजयनगर साम्राज्य में आंध्र को सम्मिलित कर लेने के बाद 'देशभाषलंदु तेलुगु लेस्स' (देश की भाषाओं में तेलुगु महान है) कहकर देश की भाषाओं में तेलुगु भाषा को उच्च स्थान दिया था। देश की भाषाओं में अपनी मिठास के लिए विख्यात तेलुगु भाषा को 'इटालियन ऑफ द ईस्ट' की उपाधि मिली थी। दो हजार वर्ष के इतिहास से समृद्ध आंध्र की इस भाषा में ई. 6वीं शताब्दी से साहित्यिक रचनाएँ पायी जाती हैं। अन्य भाषाओं की तरह तेलुगु में भी अधिक समय तक पद्य रचना का प्रचलन रहा। 19वीं शताब्दी से तेलुगु में गद्य रचनाओं का आरंभ देखने को मिलता है।

नन्न्या कृत महाभारत को तेलुगु का महाकाव्य माना जाता है। प्राचीन काल के रचनाकारों में पाल्कुरिक सोमनाथ, तिकन्ना, श्रीनाथ, पोतना आदि के नाम विख्यात हैं और आधुनिक काल में गुरजाड़ा, कंदुकूरि, कृष्ण शास्त्री, श्रीश्री, सी. नारायण रेड्डी आदि ने तेलुगु साहित्य को समृद्ध किया। तेलुगु के कवि श्रीनाथ कृत 'शृंगार नैषध' को बिहारी सतसई के समकक्ष माना जाता है तथा कवि वेमना की तुलना कबीर से की जाती है। गुरजाड़ा कृत 'कन्याशुल्कम्' विश्व की विभिन्न भाषाओं में अनूदित रचना है। तेलुगु साहित्य में उपन्यास, कहानी, एकाँकी, नाटक आदि विविध विधाओं को विकसित करने का श्रेय कंदुकूरि वीरेशिलंगम पंतुलु को है, जिन्हें आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के समान दर्जा दिया जाता है। डॉ. सी. नारायण रेड्डी को ज्ञानपीठ पुरस्कार प्रदान किया गया था। उर्दू आंध्र की द्वितीय राजभाषा है। जिस प्रकार तेलुगु को आंध्र प्रदेश के मनोभावों का प्रतीक माना जाता है, उसी तरह उर्दू को मुसलमान वर्ग की संस्कृति का चिह्न कहा जाता है। आंध्र में इन दोनों का अपूर्व संगम दृष्टिगत होता है।

आंध्र में शिल्पकला : आंध्र प्रदेश में मंदिरों, स्तम्भों, प्रतिमाओं-मूर्तियों के माध्यम से एक अद्‌भुत कला संसार का सृजन हुआ है। यहाँ की शिल्प-कला का अवलोकन शातवाहन युग, इक्ष्वाकु युग, पल्लव युग, काकतीय युग, रायल युग आदि विभिन्न युगों के अंतर्गत किया जा सकता है। शातवाहन युग में आन्ध्रों की शिल्पकला अपने वैभव के साथ विद्यमान थी। इतिहासकारों के अनुसार मूर्ति निर्माण व अन्य शिल्पकलाओं का विकास शातवाहन के समय से ही आरंभ होता है। शातवाहन राजाओं के आदर तथा धर्म प्रचार की संयुक्त पृष्ठभूमि में कलाकारों ने अनेक शिल्पों का सृजन किया। शातवाहनों के समय की शिल्पकला तीन रूपों में पाई जाती है– गुफालय, ईंट के निर्माण तथा द्वार या द्वार-तोरण। इनके समय में अमरावती, नागार्जुन पहाड़, जग्गयय्पेटा आदि क्षेत्र संगमरमर से बने बौद्ध निर्माणों के लिए विख्यात हैं। तेलुगु शिल्प के इतिहास में अमरावती स्तूप का अति महत्व है। अमरावती स्तूपों में बुद्ध का जन्म, धर्म-चक्र, संबोधि, महानिर्वाण तथा जातक कथाओं आदि का स्पष्ट अंकन हुआ है। शालंकायन राजाओं ने भी शिल्पकला के विकास में पर्याप्त योगदान दिया था। पेदवेगी स्थित चित्ररथ स्वामी का मंदिर शालंकायन के समय की चित्रकला की भव्यता को प्रस्तुत करता है। शालंकायन राजा 'चित्ररथ स्वामी' नाम से सूर्य की पूजा किया करते थे। कहा जाता है कि शालंकायनों ने अपने राज्य में सूर्य भगवान के नाम पर एक मंदिर का निर्माण करवाया था। आंध्र की शिल्पकलाओं में काकतीय शिल्पकला की एक अलग पहचान है। काकतीय शिल्प आभूषणों की बहुलता व सहज सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध है। स्वयंभू मंदिर, रामप्पा मंदिर, हनुमकोंडा, नागुलापाडु, पेद-गंजाम आदि अनेक क्षेत्रों में मंदिरों का निर्माण किया गया, जिनमें काकतीय शिल्पकला का वैभव व विस्तार परिलक्षित होता है। रामप्पा मंदिर काकतीयान्ध्रों की उत्कृष्ट शिल्पकला तथा सांस्कृतिक वैभव का प्रतीक है। तेलुगु शिल्पकारों की निर्माण–कुशलता इसमें स्पष्ट दिखाई देती है। रामप्पा

की शिल्पकला को विश्व भर में पहचान प्राप्त है।

रेड्डी राजाओं ने भी अपने शासनकाल में शिल्पकला को बढ़ावा दिया। श्रीशैलम स्थित शिव मंदिर तथा अन्य सुंदर निर्माणों में अनवेमा रेड्डी ने अपना अद्वितीय योगदान दिया है। श्रीशैलम मंदिर की प्राचीर पर शिवभक्तों की जीवनियाँ और शिव-लीलाओं का चित्रण अति आकर्षक और ज्ञानवर्धक है। आंध्र में रायल युग नाम से संबोधित युग शिल्पकला की दृष्टि से उल्लेखनीय है। आंध्र प्रदेश का एक भाग चट्टानी है, प्राचीन समय में कृषि सुविधा से वंचित लोग पत्थरों पर कलाकारी कर जीविका चलाते थे। तेलुगु में पत्थर को 'राल्लू' कहते हैं। अतः उस समय को राल्लू युग या रॉयल युग कहा जाने लगा। अन्य मान्यता है कि कृष्णदेव राय के शासन-काल में यहां का रायलसीमा क्षेत्र उनके विजय नगर साम्राज्य का हिस्सा था। उस समय यहां के कलाकारों को शिल्प-काव्य उल्लेखनीय है। 'राय' के नाम पर यह रायल युग कहा जाने लगा। 'रायलसीमा' नाम भी 'राय' नाम पर पड़ा। रायल युग की शिल्पकला में एल्लोरा शिल्पकला का गांभीर्य, काकतीय शिल्पकला की कोमलता व कलाकुशलता का सुंदर सम्मिश्रण पाया जाता है। इस युग में शिल्पकला का पुनरुद्धार हुआ। रायल युग में चित्रित गजशाला विरूपाक्ष रथ, उग्रनरसिंह मूर्ति, विरूपाक्ष स्वामी की मूर्तियों में शिल्प–गांभीर्य परिलक्षित होता है। विजयनगर, तिरुपति, लेपाक्षी, चिदम्बरम, श्रीरंगम, कांचीपुरम आदि क्षेत्रों में निर्मित मंदिर विजयनगर शिल्पशैली के हैं।

चित्रकला : भारतीय चित्रकला में आंध्र की चित्रकला का महत्वपूर्ण स्थान है। आंध्र की चित्रकला का इतिहास 22 सौ वर्षों से भी अधिक पुराना है। कर्नूल जिले के बल्लारि के समीप आंध्र की अति प्राचीन चित्रकला के कुछ संकेत मिले थे। वरंगल से 60 कि.मी. दूरी पर स्थित रेगोण्डा मण्डल की एक प्राचीन गुफा में अति पुरातन चित्र मिलते हैं जिनमें हिरण, बंदर, भालू आदि के बीच एक मानव का आकार भी हाथ में अस्त्र के साथ दृष्टिगत होता है।

आंध्र में अमरावती के चित्र भी अति महत्वपूर्ण हैं। अमरावती के चित्र प्रमुखतः महात्मा बुद्ध के जीवन पर आधारित हैं। बुद्ध का व्यक्तिरूप चित्रण, अमरावती चित्र--निर्माण के समय ही शुरू हुआ था। इससे पहले उनके पाँव, धर्म-चक्र, बोधि-वृक्ष आदि का चित्रण किया जाता था, क्योंकि उस समय बुद्ध का व्यक्ति–रूप चित्रण निषिद्ध था। कहा जाता है कि स्वयं बुद्ध ने अपने व्यक्तिरूप चित्रण के लिए किया था। बौद्ध साहित्य के अनुसार, गौतम बुद्ध का व्यक्तिरूप चित्रण सर्वप्रथम तेलुगु चित्रकारों के हाथों ही हुआ था। इसमें लिखा गया है कि कृष्णा नदी के तटीय क्षेत्रों से एक व्यापारियों का समूह बुद्ध का दर्शन करने गया था, उस समूह में एक युवा चित्रकार भी था, जिसने बुद्ध की अनुमति प्राप्त कर अप्रत्यक्ष रूप से, बुद्ध की परछाई के आधार पर बुद्ध की आकृति का चित्रण किया था। यही चित्र बाद के शिल्पकारों के लिए मार्गदर्शक बना। इसी के साथ ही नागार्जुन पहाड़ की चित्रकला में भी बौद्ध धर्म का प्रचलन रहा। काकतीय काल की चित्रकला में विविधता देखने को मिलती है। एकाम्रनाथ ने अपनी रचना 'प्रतापरुद्रचरित्र' में लिखा था कि काकतीय राज्य में सैकड़ों चित्रकार उपस्थित थे। पिल्लमर्रि, त्रिपुरान्तकम, माचर्ला के मंदिरों में काकतीयों के समय का स्पष्ट चित्रलेखन आज भी देखने को मिलता है। पिल्लमर्रि मंदिर में 'अमृत मंथन' का दृश्य अद्‌भुत है। काकतीय समय में चित्रलेखन का जनसाधारण में अधिक प्रचलन था। काकतीयों के पतन के बाद विजयनगर चित्रकला, फारसी चित्रकला, पाश्चात्य चित्रकला तथा कलंकारी चित्रकला विकसित हुई। कलंकारी चित्रकार 'अलयप्रभ' नामक बड़े चित्र पर बनाने में निपुण हैं। इन पर्दों पर पौराणिक गाथाओं, घटनाओं व मंदिरों का इतिहास चित्रित किया जाता है। बंदर, कालहस्ति, पोन्नेटि, नेल्लूर आदि क्षेत्र इस कला के लिए विख्यात थे परंतु आदर के अभाव में यह कला धीरे धीरे विलुप्त होती गई।

आंध्र की मंदिर संस्कृति :

तिरुपति : स्वामी वेंकटेश्वर बालाजी का तिरुपति मंदिर वैश्विक स्तर पर श्रद्धालुओं की आस्था का मंदिर है जो तिरुमला पहाड़ पर स्थित है। इस मंदिर के संदर्भ में लोककथा प्रचलित है कि एक बार किसी कारणवश माता लक्ष्मी विष्णु से रूठ गईं और विष्णु जी को छोड़कर कहीं चली गई थीं। लक्ष्मी जी के बिना विष्णु जी को वैकुंठ अच्छा न लगा और वे माता को खोजने भू लोक पर श्रीनिवास के नाम से अवतरित हुये, यहां आकाश राजु की पुत्री पद्मावती से उनका विवाह हुआ। यही

तिरुपति बालाजी नाम से विराजमान हुए। रूठी हुई लक्ष्मीजी कोल्हापुर (महाराष्ट्र) में विराजमान हैं। ऐसी कथा है कि पद्मावती से विवाह के लिए श्रीनिवास ने कुबेर से सूद पर धन लिया था, जिसे वे आज तक चुका ही रहे हैं। इसीलिए उनका एक नाम वड्डीकासुलवाडु (सूद चुकाने वाला) भी प्रचलित है। विजयनगर के राजा श्रीकृष्णदेव राय ने तिरुमला मंदिर के ऊपरी छत्र पर सोने की परत लगवाई थी। द्रविड़ शिल्पकला से ओतप्रोत इस तिरुपति मंदिर को भारत के अन्य मंदिरों में सर्वाधिक सम्पन्न मंदिर माना जाता है।

अन्नवरम : पूर्वी गोदावरी जिले में पंपा नदी के तट पर रत्नगिरि नामक पहाड़ पर स्थित अन्नवरम मंदिर श्री वीरवेंकट सत्यनारायण भगवान का मंदिर है। सत्यनारायाण का व्रत, आंध्र प्रदेश के लोगों का मुख्य व्रत है। गृह-प्रवेश के समय, संतान के अन्नप्राशन के समय और विवाहोपरांत पतिगृह जाते समय लड़की द्वारा सत्यनारायाण का व्रत करना मनचाहा वरदान पाना है। ऐसा भी माना जाता है कि वनवास के समय श्री राम की यहाँ पर सुग्रीव से भेंट हुयी थी। वैशाख माह में एकादशी से लेकर पाँच दिनों तक यहाँ पर भगवान का विवाह महोत्सव मनाया जाता है, जिसमें विभिन्न कलाओं का प्रदर्शन किया जाता है। मंदिर के सामने ज्योतिष शास्त्रज्ञ पिंडपरती कृष्णमूर्ति शास्त्री द्वारा समर्पित 'सन-डायल' घड़ी दर्शनीय है, जिसमें सूर्यताप के आधार पर समय का निर्धारण किया जाता है।

अमरावती : गुन्टूर शहर से तीस किलोमीटर की दूरी पर स्थित अमरावती विश्वविख्यात शिल्पकला क्षेत्रों में से एक है। अमरावती अमरेश्वर स्वामी मंदिर के लिए प्रसिद्ध है। इसे भारत के अष्टादश सिद्धपीठों और पंचरामों में एक माना जाता है। अमरेश्वर स्वामी शिवलिंग 15 फुट की उंचाई पर विद्यमान है। कहा जाता है यह लिंग निरंतर बढ़ता ही जाता था जिससे मंदिर का पुनर्निर्माण करना पड़ता था। इसे रोकने के उद्देश्य से एक पुजारी ने इस लिंग पर एक कील लगाया था और इसे लगाते ही वहाँ से रक्त की धारा बह निकली थी। सफेद लिंग पर लाल रंग का निशान आज भी दर्शकों के लिए आश्चर्ययुक्त है। दक्षिण काशी के नाम से विख्यात इस क्षेत्र को 'धान्य कटक' नाम से भी जाना जाता है।

भद्राचलम : खम्मम जिले में गोदावरी नदी तट पर स्थित यह क्षेत्र सियाराम मंदिर के लिए प्रसिद्ध है। भद्राचलम के संबंध में प्रचलित कथा के अनुसार, भद्र ने श्री राम के लिए तपस्या की थी, परंतु तब तक रामावतार की अवधि समाप्त हो चुकी थी। राम का अवतार प्रभु विष्णु के अवतारों में एक है। विष्णु जी ने भद्र को दर्शन दिये परंतु भक्तभद्र ने तो राम के रूप की आराधना की थी अतः वे विष्णु को राम के रूप में स्वीकार ही नहीं कर सके। भगवान को भक्त के सामने पिघलना ही पड़ा और पुनः राम का रूप धारण कर सीता व लक्ष्मण सहित उन्हें दर्शन दिया। अवतार बदलने की शीघ्रता में दायें हाथ का चक्र बायें हाथ में और बायें हाथ का शंख दायें हाथ में आ गया था। भद्राचलम में भगवान राम की प्रतिमा इसी रूप में है। भद्र ही भद्रादि पहाड़ है, जिस पर राम मंदिर है और यह क्षेत्र भद्राचलम के नाम से जाना जाता है।

विजयवाड़ा : पुराणों में इसे 'विजय वाटिका' नाम से जाना जाता है। ऐसी मान्यता है कि अर्जुन ने यहाँ पर एक पैर पर खड़े होकर तपस्या की थी और शिवजी को प्रसन्न किए थे। अर्जुन के इस विजय-रूप से इसका नाम--विजयवाड़ा हुआ। यह क्षेत्र बौद्ध भिक्षुओं का निवास-स्थान रहा, इसलिए इस क्षेत्र को भिक्षुवाटिका के नाम से भी जाना जाता है। इस शहर में कृष्णवेणी नदी के तट पर इंद्रकिलाद्रि नामक पहाड़ है, जिस पर कनकदुर्गा और मल्लिकार्जुन भगवान के मंदिर हैं। कनकदुर्गा को भगवान वेंकटेश्वर स्वामी की बहन माना जाता है। कनकदुर्गा भारत के अठारह शक्तिपीठों में से एक है। कृत युग में इन्द्रकौल, त्रेता युग में इन्द्र और द्वापर युग में अर्जुन ने कनकदुर्गा की पूजा की थी। शंकराचार्य ने यहाँ पर श्रीचक्र की स्थापना की थी। यहाँ के मल्लेश्वर लिंग को महर्षि अगस्त्य ने स्थापित किया था। 12 साल में एक बार कृष्णा नदी में पुष्कर (कुंभमेला) लगता है।

विशाखापत्तनम : शातवाहन व विष्णुकुंडिन द्वारा शासित इस शहर को पहले वाल्तेरु नाम से जाना था। विशाखा वीरता के प्रतीक देवता का नाम था। यहाँ वैशाख देवता का एक मंदिर था, उसी के नाम पर इस शहर का नाम विशाखापत्तनम पड़ा। यह शहर प्रसिद्ध है अपनी सुंदरता, हरीतिमा, स्वच्छता, बन्दरगाह के लिए। छोटा सा

शहर अपने अंदर कई धर्म के लोगों के संस्कारों को लेकर विकसित है। आंध्र प्रदेश का कश्मीर है लांबासींगी, आंध्रा उटी की अरकू है। बुर्रा केव, कैलाशगीरि, सबमाइरिन म्यूजियम, इन्दिरा गांधी चिड़ियाघर, वुडा पार्क, सिम्हाचल्म, रॉस हिल्स, अनंतगिरि, ठोटलकोंडा, ऋषिकोंडा, रामकृष्णा बीच, याराड़ा बीच, कनकमहालक्ष्मी आदि दर्शनीय स्थल विशाखापत्तनम की ओर दर्शकों, पर्यटकों व श्रद्धालुओं को अपनी ओर आकर्षित करता है।

उत्सव एवं त्यौहार : आंध्र में चैत्र माह का पहला दिन उगादि नाम से मनाया जाता है। उगादि शब्द 'युगादि' से बना है जिसका अर्थ है– युग का आदि या आरंभ। महाराष्ट्र व कर्नाटक में आज भी युगादि शब्द ही प्रचलित है। इस दिन प्रातः उठकर स्नानोपरांत घर को फूलों व रंगोली से सजाया जाता है। घर में एक मंडप का निर्माण कर नूतन पंचांग और साल के अधि–देवता की षोडशोपचार से पूजा की जाती है। इस दिन हर घर में नीम के फूल, आम, नया गुड़, नई इमली, हरी मिर्च, नमक आदि मिलाकर अचार बनाते हैं जिसे 'उगादि पच्चड़ी' कहा जाता है। इस पच्चड़ी को दुख-सुख के मिश्रण का प्रतीक माना जाता है। दोपहर, भोजन के पश्चात गाँव के मंदिर या घर में बैठकर पंचांग-श्रवण किया जाता है। समय को भगवान माना जाता है और इसके पाँच अंग हैं– तिथि, वार, नक्षत्र, करण व योग। मान्यता है कि इन पाँच अंगों के रूप में समय–स्वरूप भगवान जगत की रक्षा करते हैं। तिथि से संपत्ति, वार से आयु, नक्षत्र से पापहरण, योग से रोगमुक्ति और करण से कार्य सिद्धि होने की बात कही जाती है। देव–स्वरूप माने जाने वाले इन पांचों अंगों को पंचांग नाम से जाना जाता है। इन अंगों को सुनने की क्रिया ही पंचांग-श्रवण है। इसके पश्चात वर्ष में रामनवमी, हनुमान जयंती, नरसिंह जयंती, एरुवाका पूर्णिमा, मांटेद्दुला आमवास, नागुला चविथी, वरलक्ष्मी व्रतम, गणेश चतुर्थी, बटुकम्मा, बैकुंठ एकादशी और मकर संक्रांति के उत्सव मनाये जाते हैं। मकर संक्रांति आंध्र प्रदेश का अति महत्वपूर्ण त्यौहार है। यह चार दिनों तक मनाया जाता है। पहले दिन भोगी, दूसरे दिन संक्रांति, तीसरे दिन कनुमा और चौथे दिन मुक्कनुमा मनाया जाता है। भोगी होलिका दहन की तरह मनाया जाता है अर्थात इस दिन सुबह घर के सभी सदस्य अनुपयोगी सामान को घर के सामने डालकर जलाते हैं। दूसरे दिन स्वर्गवासी बुजुर्गों (पितरों) को तिलांजली दी जाती है। तीसरे दिन किसान पशुओं को नहला धुला कर उनकी पूजा करते हैं तथा बैलबाजी, भेंड़बाजी, मुर्गाभिड़ंत खेल भी आयोजित किये जाते हैं। चौथा दिन मुक्कानुमा अर्थात मांस का दिन होता है। इस दिन मांसाहारी भोजन अनिवार्य होता है। इस प्रकार यह चार दिन मनाई जाने वाली संक्रांति उल्लासमय और महत्वपूर्ण पर्व है आंध्र प्रदेश में।

लोकगीत व लोकनृत्य : भारत के अन्य राज्यों की तुलना में आंध्र राज्य में लोक कलाओं की अधिकता पायी जाती है। ग्रामीणों के दैनंदिन जीवन में मेहनत और थकावट दूर करने में प्रमुख भूमिका निभाने वाली लोक कलाओं का जनता के जीवन से गहरा संबंध है। इन लोक कलाओं में लोकगीत व लोकनृत्य की अपनी पहचान है। इस प्रदेश में दो प्रकार के लोकगीत पाये जाते हैं। प्रथम वर्ग में अनपढ़-अशिक्षित जनता, श्रमिकों द्वारा गाये जाने वाले गीत हैं तथा दूसरे वर्ग में रचनाकारों द्वारा रचित लोकगीत हैं। आंध्र के लोकगीत जाति, धार्मिक पौराणिक, आध्यात्मिक संदर्भों को लेकर बहुल मात्रा में हैं। लोकनृत्यों की भी अपनी विशेष महत्ता है। नामालसिंगडु, ज्योति नृत्य, कोलाटम नृत्य, जड़कोलाटम नृत्य, गोब्बि नृत्य, बतुकम्मा नृत्य, बोड्डेम्मा नृत्य, थिंसा नृत्य, कीलुगुर्रम नृत्य, नेमलि नृत्य, कुंचेल नृत्य, लंबाड़ी नृत्य, सिद्धि नृत्य, उरुमुलू नृत्य, गौरव नृत्य आदि अनेक लोकनृत्य हैं जो आंध्र प्रदेश के लोक में रचे-बसे हैं।

कह सकते हैं कि आंध्र प्रदेश की सांस्कृतिक संरचना में पौराणिकता, आध्यात्म, परंपरा और आधुनिकता का समन्वय है। यहाँ की जनता अपनी संस्कृति व संस्कारों को लेकर बहुत ही जागरूक और समर्पित रहती है। मिथ्याडंबर किसी के भी स्वभाव को स्पर्श तक नहीं कर पाता। पूजा-पाठ, अध्ययन, अध्यात्म, वैज्ञानिकता तथा आधुनिकता के साथ हर क्षेत्र में अग्रसर यह प्रदेश सतरंगी है।

असिस्टेंट प्रोफेसर,
हिन्दी अलायंस विश्वविद्यालय, बंगलोर (कर्नाटक)
फोन : 8886995593/8142623426
ईमेल– anupama.tiwari@alliance.edu.in

❐❐

भारत-नेपाल का एकत्व

नर बहादुर दहाल

भारत वर्ष नेपालियों के लिए सदा पावन भूमि रही है, इसे देवभूमि मानकर श्रद्धा करते हैं नेपाली। वे धार्मिक अनुष्ठानों में नेपाल को जम्बूद्वीपे भारतखंडे भारतवर्षे आर्यावतान्तर्गते कह कर संकल्प करते हैं। वस्तुतः भारत और नेपाल के बीच मैत्री सम्बंध के शक्तिशाली आधार ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, भाषिक तथा साहित्यिक के साथ-साथ धार्मिक भी हैं। जिस प्रकार भारत के प्रमुख प्राचीन तीर्थ काशी, गया, हरिद्वार, बद्रीनाथ, केदारनाथ, कामाख्या, परशुराम कुण्ड इत्यादि में हर साल नेपाल के हजारों तीर्थयात्री पूजा-पाठ श्राद्ध-तर्पण करते हैं, उसी प्रकार भारत से भी पशुपतिनाथ, गुहेश्वरी, जनकपुर, मनोकामना इत्यादि तीर्थ जाने वाले भारतीय तीर्थयात्रियों की संख्या कम नहीं होती है! इस संबंध को भारत के सारनाथ और नेपाल के लुंबिनी जाने वाले दोनों तरफ के बौद्ध तीर्थयात्रियों ने और सुदृढ़ बनाया है। नेपाली भारत की सात पुरियों का श्रद्धा से स्मरण करते हैं– *अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, कांची, अवंतिका। पुरी द्वारावती चैव सप्तते मुख मोक्षिदायिका।* नेपालियों के लिए काशी, हरिद्वार का गंगा स्नान तथा गया, बद्रीनाथ की बड़ी महिमा है। नेपाली स्नान करते समय इस मंत्र का पाठ करते हैं–

गंगे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती। नर्मदे सिंधु कावेरी जलेस्मिन सन्निधि कुरु।।

नेपाली असम के कामाख्या दर्शन तथा अरुणाचल के परशुराम कुंड की तीर्थयात्रा को बहुत महत्व देते हैं। नेपाल से कामाख्या जाकर देवी दर्शन करने वालों में जनसाधारण मात्र न होकर नेपाल का शाही परिवार तथा कुलीन राणा सपरिवार भी हैं जो मंदिर परिसर में शिविर लगाकर जप-तप-होम-यज्ञ करते हैं। नेपाल से भारत आने वाले तीर्थयात्रियों का बाहुल्य देखकर नेपाल सरकार ने भारत के मुख्य तीर्थों में सन 1881 से लाल मोहरिया पंडा भी नियुक्त किया था। लाल मोहरिया पंडा के कामों का निरीक्षण करने के लिए तीर्थ यात्रा के बहाने नेपाल के राणा श्री बहादुर शमशेर सन 1896 में कामाख्या पहुंचे थे। यहां की गुरुकुल परंपरा की शिक्षा ने सबको आकर्षित किया था, न्याय न मिले तो गोरखा जाओ, ज्ञान चाहिए तो काशी जाओ, नेपाली समाज में यह कहावत प्रचलित थी, भारत और नेपाल में ऐतिहासिकता अति प्राचीन मानी गई है। भारत से सम्राट अशोक का नेपाल भ्रमण तथा कीर्ति स्तंभ निर्माण और राजा विक्रमादित्य द्वारा शुरू किये गये विक्रम संवत का प्रचलन होना प्राचीनतम संबंध के उदाहरण हैं। नेपाल के एकीकरण के पूर्व ही सन् 1742 ईस्वी में पृथ्वी नारायण शाह ने काशी यात्रा की थी। संभवत नेपाल के किसी राजा द्वारा की गई यह पहली राजकीय यात्रा थी।

भारत की सार्वभौमिकता की रक्षा के लिए नेपाल सदा से ही तत्पर रहा। सेनानायक वीर बलभद्र और उनके मात्र 600 वीर सैनिकों ने नालापानी खलंगा युद्ध में गोला बारूद युक्त 15,000

अंग्रेजी सेना और उनके सेनानायक जनरल जेलेस्पी से टक्कर ली थी। नालापानी के खलांगा में आत्मसमर्पण करने का आदेश पत्र लेकर गए अंग्रेज कमांडर के पत्रवाहक के आगे पत्र फाड़ कर बलभद्र ने कहा था कि आधीरात में पत्र पढ़ने और जवाब देने की प्रथा हमारी नहीं है। कल युद्धभूमि में ही मुलाकात करेंगे। ऐसे वीरभद्र और काजी अमर सिंह थापा ने एक सुर में सुगोधी संधि का विरोध किया और संधी पत्र में हस्ताक्षर नहीं किया और भारत जाकर अपने 1000 साथियों के साथ महाराजा रणजीत सिंह की सेना में शामिल हुए। महाराजा रणजीत सिंह ने बलभद्र को सेनानायक का पद दिया। सन् 1833 ईस्वी में महाराजा रणजीत सिंह की आज्ञा अनुसार अफगानिस्तान के पदच्युत शाहसूजा को काबुल की गद्दी पर बिठाकर लौटते वक्त रास्ते में अफगानिस्तान की सीमा की चरेकर नामक जगह में 15000 पठान कबाइलियों के साथ हुए युद्ध में वीरभद्र और उनके 1000 सैनिकों को वीरगति मिली थी। भारत और आज के पाकिस्तान का जिला हजारा जहां युद्ध हुआ था, वीरभद्र और उनके 1000 सैनिकों के सम्मान में हजारा नाम से विख्यात है।

1857 के भारत के स्वाधीनता संग्राम में भारत के कई संग्रामियों ने संकटकाल में नेपाल में शरण ली थी। सन 1857 ई में सिपाही विद्रोह के एक प्रमुख सेनानी नाना साहेब की मृत्यु नेपाल में हुई थी। पंजाब के राजा रणजीत सिंह की पत्नी चाँद कुँवर तथा अवध नवाब की पत्नी बेगम हजरत महल ने भी नेपाल में शरण ली थी। इन्हें ब्रिटिश भारत को वापस करने के लिए अंग्रेजों का नेपाल पर बड़ा दबाब था, तब भी नेपाल के शासकों ने बताया था कि शरणागत को शरण देना हमारा धर्म है। बीबी चाँद कुँवर और बेगम हजरत महल का निधन नेपाल में हुआ था। बेगम हजरत महल की समाधि आज भी काठमाडो (काठमाण्डु) घण्टाघर के नजदीक विद्यमान है। भारत के स्वतंत्रता संग्राम के क्रान्तिकारी बारीन घोष नेपाल के हनुमान नगर तथा मोरंग में और अम्बा प्रसाद नेपालगंज में शरणागत थे। काकोरी काण्ड के महान क्रान्तिकारी हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक मन्थन नाथ गुप्त का बाल्यकाल नेपाल के विराटनगर में गुजरा था। उनके पिता बिन्देश्वर गुप्त स्थानीय विद्यालय में प्रधान अध्यापक थे।

भारत के दूसरे स्वाधीनता आन्दोलन में नेपाल के कोइराला परिवार का बड़ा योगदान रहा। विश्वेश्वर प्रसाद कोइराला के पिता कृष्णप्रसाद कोइराला ने भारत में जब निर्वासित जीवन बिताया था तो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के विभिन्न पदों पर रहकर सक्रिय कार्य किया था। बनारस के मैदागिन चौक में विदेशी कपड़े जलाने वालों में कृष्ण प्रसाद कोइराला, रामकृष्ण श्रेष्ठ और रामचन्द्र अधिकारी का नाम लिया जाता है।

मातृका प्रसाद कोइराला ने महात्मा गाँधी के आह्वान पर नौ साल की उम्र में पढ़ाई ही छोड़ दी थी, पीछे उन्होंने राष्ट्रीय विद्यालय में फिर अध्ययन किया। उन्होंने बिहार कांग्रेस के केन्द्र सदाकत आश्रम में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के साथ सात साल सहयोगी के रूप में गुजारा था। मिथ्या आरोप लगाकर ब्रिटिश सरकार ने उन्हें जेल में भी डाल दिया था। भारत के स्वाधीनता आन्दोलन में नेपाल के इतिहास पुरुष विश्वेश्वर प्रसाद कोइराला को आन्दोलन में सक्रिय होने के कारण सन 1942 में बिहार के हजारीबाग और बाँकीपुर जेल में तीन साल बिताने पड़े थे। भारत के स्वाधीनता संग्राम में समर्पित नेपाल के डिल्लीरमण रेग्मी, सूर्य प्रसाद उपाध्याय, कृष्ण प्रसाद भट्टराई, मनमोहन अधिकारी, नारायण प्रसाद भट्टराई को जेल की सजा भुगतनी पड़ी थी।

भारत के स्वतंत्रता संग्राम में ज्यादा सक्रिय और संलग्न होने के कारण बुम्बई में सन 1932 में जेल जाने वाली महिला तुलजा शर्मा नेपाल की बेटी थी। नेपाल के गाँधी भक्त तुलसी मेहर श्रेष्ठ कई वर्षो तक साबरमती आश्रम में महात्मा गाँधी के साथ रहे थे, उन्हें आश्रम में सब गांधी का हनुमान कहा करते थे। नेपाल लौटकर आने के बाद उन्होंने आजीवन खद्दर, चरखा तथा घरेलू सिल्क का प्रचार किया था। उन्होंने नेपाल में चर्खा प्रचारक गांधी स्मारक गुढ़ी की भी स्थापना की थी। विनोबा भावे के साथ वर्धा के आश्रम में उन्होंने दो साल बिताये थे। स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात भारत सरकार ने उन्हें पंडित जवाहरलाल नेहरू अंतरराष्ट्रीय सद्भावना पुरस्कार से सम्मानित किया था। सन् 1956 में राणाओं के एक तंत्री शासन का अंत कराके नेपाल में प्रजातंत्र स्थापित करने वाले राजा त्रिभुवन को भी सपरिवार भारत में शरण लेने

को बाध्य होना पड़ा था, उस समय भारत ने नेपाल में प्रजातंत्र स्थापना में सहयोग प्रदान किया था।

भारत में बांग्ला भाषा-साहित्य को सम्पन्न और पुराना भाषा-साहित्य माना जाता है। इस भाषा का प्राचीन रूप चौदहवीं शताब्दी से पहले के चर्यागीत हैं, जिन्हें नेपाल के वीर 'पुस्तकालय' ने संरक्षित करके रखा है। बांग्ला भाषा के विद्वान महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री ने सन 1916 में नेपाल से ही ले जाकर इन्हें प्रकाशित किया था। भारत की बांग्ला, असमी तथा उड़िया भाषा के प्राचीन रूप 'चर्या गीतों' में होने की बात विद्वानों ने मान ली है। यदि नेपाल ने इसे संरक्षित करने का काम न किया होता तो इन तीन भाषाओं को इतनी सुसंस्कृत, सम्पन्न तथा प्राचीन मानने के सबूत नहीं होते।

भारत की प्रमुख राजभाषा हिन्दी की तरह ही नेपाली भाषा की उत्पत्ति भी शौरसेनी अपभ्रंश से से होना, हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं की तरह ही नेपाली का भी संस्कृत से उत्पन्न होना, हिन्दी-मराठी भाषा की तरह नेपाली भाषा को भी देवनागरी लिपि में लिखा जाना भारत-नेपाल मैत्री के अन्यतम भाषागत आधार है।

काशी प्राचीन काल से ही नेपाल के लिए शिक्षा तथा साहित्य का केन्द्र रहा है। काशी जाकर शिक्षा लाभ करने वाले विद्वानों में भानुभक्त आचार्य और मोतीराम भट्ट के नाम हैं। मोतीराम ने एक मित्र मण्डली बनाकर काशी से जो नेपाली साहित्य की सेवा की थी, वह सदा स्तुत्य है। उनके सानिध्य में हिन्दी साहित्य के इतिहास पुरुष भारतेन्दु हरिशचन्द्र भी थे। यह जानकारी हिन्दी साहित्य के विद्वानों ने दी है। काशी जाकर भाषा, साहित्य, दर्शन तथा धर्म का चिन्तन-मनन-अध्ययन करने वालों में संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान पण्डित कुलचन्द्र गौतम भी हैं, जिन्होंने गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित मानस का हिन्दी से नेपाली में अनुवाद किया था। इस क्रम में आने वाले अन्य विद्वानों में कवि विद्यारण्य केशरी, सुब्बा होमनाथ खतिवड़ा, दार्शनिक नलिदेव पन्त, पण्डित प्रवरपद्म प्रसाद भट्टराई, पण्डित सोमनाथ सिग्देल, पण्डित देवीदत्त पराजुली, शिखरनाथ, जगन्नाथ गुरागाई, लक्ष्मीप्रसाद देवकोटा,राममणि, नीलहरि ढकाल, नारायण प्रसाद, गोपाल प्रसाद भट्टराई उल्लेखनीय हैं।

नेपाल के राजा रण बहादुर शाह ने काशीवास में निर्गुण भजनों की रचना की थी, जो नेपाली साहित्य की निधि मानी जाती हैं। इसके अतिरिक्त नेपाली पत्रकारिता के क्षेत्र में काशी की देन अतुलनीय है। इस महत कार्य में पण्डित सदाशिव शर्मा (उपन्यास 'तरंगिनी' सन 1902) पण्डित देवीदत्त पराजुली, पण्डित सोमनाथ सिग्देल, चक्रपाणी चालिसे (सुन्दरी, सन 1907), राममणि आ.दी. (माधवी; सन 1908), माघोप्रसाद (चन्द्र,सन 1994) सूर्यविक्रम ज्ञवाली (गोर्खाली, सन 1916), आशुकवि शम्मु प्रसाद ढुंग्याल (राज भक्ति, सन 1926), काशी बहादुर श्रेष्ठ (उदय, सन 1937) का योगदान उल्लेखनीय है।

संस्कृत के वाल्मीकि, हिन्दी के तुलसीदास, बांग्ला के कृतिवास ने जिस भावना से अपनी-अपनी भाषाओं में रामायण की रचना की, नेपाली भाषा में भानुभक्त आचार्य ने उसी भावना से अनुप्रेरित होकर 'रामायण' की रचना की। नेपाली जन जीवन में रामायण के प्रभाव की चर्चा या सराहना भारतीय विद्वानों ने की है। भानुभक्त के कृतित्व की प्रशंसा करने वालों में कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी प्रमुख हैं। पश्चिम बंगाल के पूर्व राज्यपाल कैलाशनाथ काटजू ने तो 'भानुभक्त' को नेपाल मात्र का नहीं भारत का भी कवि कहा है। 'बड़ो दुर्लभ जानोस् भरत भूमि को जन्म जनले', भारत की महिमा और गरिमा गाने के लिए भानुभक्त की यह पंक्ति पर्याप्त है। भारत के पश्चिम बंगाल, सिक्किम, असम में भानुभक्त के जन्म दिन पर सरकारी छुट्टी घोषित की जाती है। आज भारत के विभिन्न राज्यों में भानुभक्त आचार्य की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित की गई हैं और भानु जयन्ती पर व्यापक रूप में साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजन करके इसे मनाने की परंपरा स्थापित हो गई है।

यह बहुत महत्वपूर्ण और गरिमाबोध की बात है कि भारतीय भाषाओं की बहुत श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों का अनुवाद नेपाली भाषा में हुआ है। कई नेपाली कवियों ने महात्मा गाँधी और जवाहरलाल नेहरू के निधन पर शोक-कविताओं की रचना की है। नेपाली के प्रख्यात कवि लेखनाथ पौड्याल ने महात्मा गाँधी की स्मृति में एक खंडकाव्य 'सत्य स्मृति' की रचना की है। इसी तरह सिद्धिचरण श्रेष्ठ और केदारमान व्यथित ने बापू के

निधन पर बहुत ही सारगर्भित आलेख लिखे।

नेपाल के महाकवि लक्ष्मीप्रसाद देवकोटा की भारत के प्रति अगाध श्रद्धा थी। उन्होंने अपने महाकाव्य 'शकुन्तला' के प्रारम्भ में लिखा है– *मीठो लाग्छ मलाई त प्रिय कथा प्राचीन संसार को, हाम्रो भारत वर्षको उदयको होमप्रभा सार को।* 'शकुन्तला,' 'सुलोचना' 'महाराणा प्रताप', 'पृथ्वीराज चौहान' महाकवि लक्ष्मी प्रसाद देवकोटा के महाकाव्य हैं जिनमें भारत के प्रति उनकी भक्ति और श्रद्धा व शौर्य की गाथा मुखरित हुई है। महाराणा प्रताप वीररस का महाकाव्य है। महाकवि देवकोटा महाराणा प्रताप में कहते हैं– *हाम्रो भारत सभ्यता छ त कहाँ, मी वीर को नाममा, हाम्रो भारत कीर्ति झलमल भयो, मी वीर कै नाममा।* महाकवि देवकोटा की नजर में भारत और नेपाल एक ही हैं। इसलिए उन्होंने अपनी कृतियों में कई जगहों पर 'हाम्रो भारत' कहकर उल्लेख किया है। वे अपनी प्रसिद्ध कृति 'मुना मदन' में मरणासन्न मदन के मुख में गंगा का जल डाल देना चाहते हैं, क्योंकि नेपाल के लाखों नेपाली जनगण की तरह उनमें भी गंगा के पवित्र जल से सद्‌गति की आस्था है। उनकी अन्य अनेक पुस्तकों में भी भारत के गुणगान है। भारत को लांछन लगाने वाली एक भी पुस्तक नेपाल में प्रकाशित नहीं हुई है। नेपाल की रामायण की कथा के अनुसार भी अयोध्या के राम ने जनकपुर की राजकुमारी सीता से शादी की थी। नेपाल के राजघरानों से भारत के विभिन्न राजघरानों का संबंध रहा है। ऐसे वैवाहिक संबंध भारत के काशी, राजस्थान, कश्मीर, कूच बिहार, मणिपुर तक थे। इसी नाते से नेपाल के कुटुम्ब भारत में यत्र-तत्र हैं। डॉ कर्ण सिंह, विजय राजे सिन्धिया, बसुन्धरा राजे सिन्धिया ऐसे ही सम्बधों में बंधे हैं। नेपाल के राजा प्रताप महल का विवाह सत्रहवीं शताब्दी में कूच बिहार के राजा वीरनारायण की राजकुमारी से हुआ था। मणिपुर के राजा नेपाल से शादी करके रानी धनमञ्जरी को लाये थे। रानी के नाम से इम्फाल में आज महाविद्यालय है।

भारत के सिद्ध तांत्रिक नेपाल से जो गीत लेकर गये थे, वे ही चर्या गीत आज के प्राचीन रूप माने जाते हैं। अद्यावधि नेपाल के मंदिरों में पर्व-त्योहार के अवसरों पर आज भी वे गीत गाने का प्रचलन है। नेपाल में प्राचीन काल से ही बौद्ध के साथ वैष्णव धर्म चलने लगा था। इसलिए चर्या गीतों के साथ वैष्णव गीतों का प्रचार होता गया। बारहवीं शताब्दी में जयदेव द्वारा गीत गोविन्द की रचना होते ही वह नेपाल पहुँच गया था। नेपाल के नेवार सम्प्रदाय में चर्या गीत के साथ गीत गोविन्द को बहुत प्रसिद्धि मिली थी। पर्व और त्योहारों में दोनों गीत प्रेम और श्रद्धा भक्ति से गाये जाते थे। नेपाल में गीत गोविन्द कितना लोकप्रिय था, इसका प्रमाण काठमाड़ौ के वीर पुस्तकालय में उपलब्ध लिखावट से मिलता है। नेपाल के बसन्तपुर दरबार में बसन्त पंचमी के अवसर पर शाही परिवार की उपस्थिति में वसन्त श्रवण कार्यक्रम हर साल होता था। उस समय भी जयदेव के गीत गोविन्द को ही गाने की प्रथा थी। नेपाल के नेवार राजा के जमाने से यह प्रथा चली आ रही है। इतिहासकार सूर्य विक्रम ज्ञवाली के विवरण अनुसार, यह गीत स्त्री-पुरुष घर-घर में एक साथ गाते थे।

प्राचीन काल में नेपाल के मल्ल राजा कविता के खूब शौकीन थे। वे खुद ही शृंगार और भक्ति रस की कविताएँ रचते थे। पहले संस्कृत में लिखते थे, पीछे हिन्दी, मैथिली, बांग्ला, अवधि तथा नेवारी में रचने लगे थे। मैथिली भाषा में काव्य रचना करने वालों में पाटन के राजा सिद्धि नरसिंह मल्ल बहुत विख्यात हुए। दूसरे मल्ल राजाओं को भी कई भारतीय भाषाओं का ज्ञान होने की जानकारी मिलती है। भाषा का वह ज्ञान भारत से नेपाल के दरबार में आश्रय लेने वाले भारतीय पंडितों से मिला था।

विद्यापति मिथिला के कवि थे। उन्होंने मैथिली भाषा में काव्य रचना की थी। उनकी कविताओं को भारत तथा नेपाल दोनों देशों में प्रसिद्धि मिली। उनकी कविताओं ने महाप्रभु चैतन्य देव के हृदय को भी स्पर्श किया था। चैतन्य देव व उनके शिष्यों का प्रचार असम तक पहुँचा। असम के अहोम राजा बड़ी संख्या में प्रेममार्गी अद्वैतवाद में दीक्षित हुए। चैतन्य देव की भक्ति में विह्वल संगीत ने हिन्दू-बौद्ध की सीमा पार करके वज्रयानी शक्ति वाममार्गियों को भी संगीत और मृदंग की ताल में नचाया था। विद्यापति नेपाल के बाहर बंगाल में इतने लोकप्रिय हुए कि बंगाल का जनगण उन्हें बांग्ला का ही कवि समझने लगा।

भारत-नेपाल देशों के बीच सैन्य सन्धियाँ भी हुई थीं जो सन 1904 से भारत और नेपाल के संबंध सुदृढ करने का विशिष्ट माध्यम हैं। अफसोस है कि कुछ अन्तरराष्ट्रीय तथा सांप्रदायिक जनसमूह इतिहास के ज्ञान के अभाव में भारत और नेपाल के बीच के बरसों के मैत्री संबंध को तोड़ने की धृष्टता कर रहे हैं। ये अक्सर भारतीय गोरखाओं के अपनी भाषा, साहित्य, संस्कृति तथा वासभूमि के आन्दोलन को, नेपाल के साथ जोड़कर भारत तथा नेपाल के मैत्री संबंध को धूमिल करने का प्रयास करते हैं जबकि भारतीय गोरखाओं के किसी भी आन्दोलन में नेपाल की प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष कोई भूमिका नहीं है। हम भारत में रह रहे गोरखा नेपाली नहीं, भारतीय हैं और देश के संविधान में हमारी आस्था है। हम संवैधानि अधिकार के लिए आन्दोलन करते हैं। भारत के अन्य नागरिक नेपाल को जिस दृष्टि से देखते हैं, हम भी उसी दृष्टि से देखते हैं। नेपाल भारत का मित्र राष्ट्र मात्र ही नहीं है, दोनों के बीच आत्मीय पारिवारिक संबंध हैं। इस मैत्री संबंध को धूमिल करने वाले भारत के ही नहीं नेपाल के भी शत्रु हैं।

सुकना बाजार पो. सुकना,
जिला दार्जिलिंग (प.बं.) 734009
मो. 9733014807
अनुवादक :
बिर्ख खडका डुवर्सली, बुबु आमा खडकालय,
दुर्गागढी, प्रधाननगर, दार्जिलिंग-734003
ईमेल- birkhadkd@gmail.com
मोबाइल नम्बर-9749052857

❑❑

प्रतिस्वर

वैचारिकी का मार्च-अप्रैल 2023 अंक रामकथा अंक के रूप में निकालकर आपने विशद सामग्री प्रदान की है, यह स्तुत्य है। राम रोम-रोम में, कण-कण में रमण करते हैं और भारत की हर भाषा में रामायणों का सृजन हुआ है, इससे यह प्रमाणित होता है कि हर युग में भक्ति, वीरता व आदर्शवादिता का वर्चस्व रहा है। नैतिक मूल्य सदैव मानव मात्र को आदर्श जीवन जीने को प्रेरित करते हैं। हर भाषा की रामायण में थोड़ा-बहुत अंतर कवि के परिवेश एवं उसके दृष्टिकोण के कारण से है, परन्तु राम के प्रति आस्था का दिग्दर्शन होता है। वाल्मीकि रामायण और तुलसी की रामायण में यही मूल अंतर है। डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा के अध्यक्षीय 'अविभक्तं विभक्तेषु' में भारतीय संस्कृति की सनातनता का गम्भीर प्रतिपादन किया गया है। सम्पादक डॉ. बाबूलाल शर्मा ने अपने सम्पादकीय में रामचरितमानस एवं हनुमान चालीसा के संबंध में तथा विभिन्न रामकथाओं के संबंध में प्रभावी व विद्वत्तापूर्ण ढंग से अपने विचारों को प्रस्तुत किया है। विद्वान लेखकों ने विभिन्न रामायणों व राम से संबंधित पुरातात्विक संदर्भों तथा रामकथा से संबंधित अन्यान्य प्रसंगों को लेकर जो लिखा है वह प्रशंसनीय व संग्रहणीय है। वैचारिकी का यह अंक भारतीय संस्कृति व साहित्य के प्रेमियों के लिए एक महान उपलब्धि है। संपादक को बधाई।

डॉ. विनोद सोमानी 'संह'
42/43, जीवनविहार कॉलोनी, आनासागर सरक्यूलर रोड,
अजमेर-305004, मो. 9351090005

अथ गौरव-गाथा रथ की

सृष्टि का नव विहान। चारों ओर निस्तब्धता। धाता का मन अकेले कैसे रमता? उसके मन में एक से अनेक होने की कामना आई। पथ का विस्तार था। पर मनोरथ को साकार करने के लिये आधार चाहिये। मन रूपी रथ गतिमय हुआ। तत्काल छः रथ प्रकट हुए। कलाकार कन्हाई ने एक रथ प्रकृति रूपी राधा को दिया। नूतन सर्जना के संचालन के हेतु एक रथ अपने प्रतिरूप नारायण को प्रदान किया। सत, रज, तम के तीन रथों की रास अपने करों में रखी (ब्रह्मवैवर्त पुराण)। इस प्रकार रथ भारतीय इतिहास, गौरव, विकास के मूल में हैं, सतत रहे, और आज भी गतिमय हैं। सम्पन्नता के प्रतीक होने से ही दशरथ जैसे नाम रखे जाते थे।

रथ गौरव और प्रतिष्ठा के प्रतीक थे। रथ पर आने वाला सम्मान्य समझा जाता था (तैत्तिरीय संहिता)। विद्वानों के रथ राजा खींचता था। आज भी रथ यात्रा के उत्सव पर उड़ीसा के पूर्व नृपति रथों के आगे का मार्ग सोने की मार्जनी से बुहारते हैं। शुल्क रूप में भी रथ का चलन था। 'अप्तोर्याम' यज्ञ में होता को चाँदी के गर्दभी-रथ पर आसीन कर, उसकी शोभा-यात्रा निकालते थे। वाजपेय यज्ञ में रथ-दौड़ का भी आयोजन होता था।

मान का प्रतीक होने से जामाता श्वसुर को रथ प्रदान करता था। यौतुक-प्रथा हो जाने पर, कन्या का पिता दहेज में रथ देने लगा। आज भी 'दशम ग्रह' जैसे दामाद भले बेकार हों, पर यान्त्रिक रथ या कार, सरकार के कर की तरह वसूलते हैं। दुर्वासा के दुराग्रह पर कृष्ण ने उन्हें रथ पर बिठा, रानी रुक्मिणी को अश्व के स्थान पर जोत कर, रथ हाँका था। रथ शोभा-यात्रा, आखेट, युद्ध, नारी-अपहरण, पशु-हरण के कार्य में भी आता था। रथ-दौड़ को 'आजि' कहते थे। इसके लिये राजन्य या राज-कुल का व्यक्ति उत्तर दिशा में वाण छोड़ता था। वह शर जहाँ गिरता, वहाँ से दूसरा तीर चलाया जाता। इस प्रकार सत्रह तीरों की दूरी अन्तिम लक्ष्य होती थी। 17 नगाड़े ढम-ढमाते रथियों का उत्साह बढ़ाते। इन रथों में दाईं ओर एक अतिरिक्त अश्व भी रहता था। पीछे एक घोड़ा बिना जुता चलता था। दोपहर की वेला में आयोजित इस दौड़ में दर्शक दाँव भी लगाते थे।

खाण्डव-वन दहन कर, अधिकार करना था, पाण्डवों को इन्द्रप्रस्थ बसाना था। आज भी आदिवासी जंगल जलाकर, नव कृषि-भूमि हस्तगत करते हैं। अधिकृत करने के लिये आवश्यक था कि उसके सभी निवासियों को समाप्त किया जाये। कोई बच कर न जाये, इसलिये अरण्य के दोनों ओर गोपेश की मन्त्रणा से अर्जुन ने रथों की बाड़ लगा दी थी। कन्हाई विदर्भ-नरेश भीष्मक की सुता रुक्मिणी का हरण करना चाहते थे। उसका विवाह शिशुपाल से निश्चित हो चुका था। पर रुक्मिणी उससे परिणय न करना चाहती थी। विदर्भ में शिशुपाल, जरासन्ध, शाल्व की सेनायें एकत्र हो चुकी थीं। मोहन ने गिरिजा मन्दिर से बाहर आते ही उसे अति तीव्रगामी रथ पर बिठाया और सकुशल निकल आये (भागवत, दशम स्कन्ध, उत्तरार्ध)। रथों की इन्हीं विशेषताओं से सम्बन्धियों और मित्रों को ये उपहार में भी दिये जाते थे। राजा वश को पृथुश्रवा ने घोड़ियों सहित स्वर्ण-रथ उपहार में दिया था (ऋग्वेद, मण्डल-3, सूक्त-53, मन्त्र-9)।

रथ के लिये स्यन्दन शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। स्यन्दन सांग्रामिक या युद्ध-रथ होता था। तिनिश की लकड़ी दृढ़ तथा रथ बनाने के लिये उपयुक्त होती थी। स्यन्दन का अर्थ तिनिश है। अतः उससे बने मजबूत वाहन को स्यन्दन कहा जाने लगा। उपयोग, सज्जा आदि के अन्तर से रथों का नामकरण हुआ। वैसे इसके तीन प्रमुख भेद थे। 'औपवाह्य' नित्य प्रति के आवागमन में व्यवहारित था। इसमें दो घोड़े जोते जाते थे। सांग्रामिक या स्यन्दन युद्ध-रथ था। रथ-रण में स्यन्दन भिड़ते थे (मनुस्मृति, अध्याय 7-192)। वीरों को रथ-चालन सीखना पड़ता था। सारथि के मारे जाने पर मेघनाद ने रथचर्या या रथ हाँकने की प्रवीणता दिखायी थी। रथ-चालन तथा वाण-प्रहार दोनों में एक साथ कौशल दिखा, उसने सबको चकित कर दिया था। मिस्र, यूनान, रोम आदि में रथ 1500 ईस्वी पूर्व बने। पर उनमें बैठने का स्थान न होता था। भारत में ब्राह्मणों के लिये विशिष्ट सज्जित, सुखद ब्राह्म रथ थे। विवाह आदि उत्सवों के लिये फूलों से सजा पुष्प-रथ होता था। इसमें स्वर्णालंकारों से युक्त उत्तम कोटि के अश्व जोते जाते थे। रथ-चर्या का प्रशिक्षण राजकुमारियाँ भी लेती थीं। कैकेयी अपने पति के साथ समर में जाती और समय पर रथ चला कर दशरथ के प्राण बचाती थी।

आवरण के अनुसार भी रथों के भेद-वास्त्र, काम्बल तथा चार्म थे। वस्त्र से आच्छादित वास्त्र कहलाते। काम्बल रथों पर कम्बल ढके होते। 'वेस्सन्तर जातक' में गान्धार के बीर बहूटी जैसे लाल कम्बल उल्लिखित हैं। पीले कंबल भी मण्डित होते थे। धनिकों के रथ पर बहुमूल्य कम्बल आवृत रहते थे। इन्द्र के रथ पर लाल कम्बल का आसन होता था। चार्मो में 'द्वैप' तथा 'वैयाघ्र' थे। बाघ के चर्म से ढके वैयाघ्ररथ का उपयोग राज्याभिषेक पर राजा के लिये होता था। राम के राज्याभिषेक के अवसर पर वैयाघ्र-रथ आया था (वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड, 6/28)। युधिष्ठिर के लिये भी उक्त अवसर पर ऐसा ही रथ आया (महाभारत, सभा पर्व, 51/23)।

सांग्रामिक रथ बाघ या हाथी के चमड़े से ढके रहते थे (महाभारत, भीष्म पर्व, 155 अध्याय)। वेदों में भी इनका उल्लेख है। संलग्न पशु के अनुसार भी इनमें प्रभेद था। अश्वतरी या खच्चरों का रथ भी प्रचलन में था। राक्षस व्याघ्र, बिडाल, शूकर, सिंह, ऊँट आदि के रथ पर चढ़ कर रण-स्थल में आये थे (वाल्मीकि रामायण, युद्ध काण्ड, 73)। दशानन कुमार अतिकाय के स्यन्दन में एक सहस्र अश्व जुतते थे। संभव है, विरोधी को आतंकित करने के लिये ऐसा प्रचारित किया गया हो। उनके हेतु चार सारथि नियुक्त थे। प्रह्लाद के रथ में केवल आठ अश्व थे। अश्वतरी या खच्चरी भी रथ-वाहक होती थीं। अन्धकासुर के स्वर्ण-रथ में 1000 अश्वतरियाँ लगती थीं (वामन पुराण, 9/25/30)। राक्षस भय उपजाने के लिये बाघ, विडाल, वराह, सिंह, ऊँटों के रथ पर चलते थे (वाल्मीकि रामायण, युद्ध काण्ड, 73)। राम से वन में मिलने गये अवध-वासी ऊँटगाड़ी पर भी थे। 'महानिदेश' 'जातक' में भी इनका उल्लेख है। राजस्थान में आज भी 'सिकरम' (ऊंटगाड़ी) मुख्य वाहन है। 'आश्व रथ' में 100 से 1000 तक घोड़े जोते जाते थे। बैल जुता रथ 'छकड़ा' या बहली यात्रा के साथ-साथ सामान ढोने में काम आते थे। उनकी दौड़ आज भी महाराष्ट्र में आयोजित होती है। शोभा यात्रा में उन्हें स्थान मिलता था। मुगल सम्राट जहाँगीर दक्षिण की यात्रा के लिये बहली को ही उपयुक्त मानता था। गज-रथ का भी चलन था। धार्मिक यात्रा में उनका उपयोग होता था। रावण की सेना में सात कोटि के हाथी थे। पवन पुत्र ने लंका में तीन और चार दाँतों वाले गजेन्द्र देखे थे (वाल्मीकि रामायण, 3/43/4)। रावण के रासभ (गधा) रथ तीव्रगामी थे। दुर्योधन ने पुरोचन को वारणावत शीघ्र पहुँचने के लिये रासभरथ पर ही जाने का आदेश दिया था। महानिदेश जातक में भी खर-यान या गर्दभरथ वर्णित है (5/355/1)। पतंजलि ने भी 'गर्दभरथ' का उल्लेख किया है। पर्वतवासी किन्नर रथों में नाग का प्रयोग 'पात्र' या वाहक रूप में करते थे। वह संभवतः हाथी हो सकता है। वैसे पालतू अजगर का भी वाहन में प्रयोग सम्भावित है। चन्द्र-रथ में हंस, कहीं मृग जुते होने का वर्णन है। रथ अनश्व या बिना अश्व के भी वेदों में उल्लिखित हैं। उन्हे विद्युद्रथ कहा गया है (ऋग्वेद, 3/14/1)। 'अश्विनी' का अर्थ 'घोड़ी' है। अश्विनी कुमारों की माता घोड़ी न होकर 'शालिहोत्र' या 'पशु-चिकित्सक' थीं। उनके पुत्र भी वैद्य तथा गुणी थे। उनके आविष्कारों में बिना अश्व का यान्त्रिक रथ भी था

(ऋग्वेद,1,120,20)। अश्वपर्ण ने तो द्रुत-गमन के लिये रथ पर पाल ताने थे। पाल में वायु भर जाने पर वे रथ पथ पर अति तीव्र वेग से भागते थे। चक्र-रहित 'स्लेज' जैसे रथों पर आर्य सथथोम के उद्‌भव-स्थल शर्यणा के तट पर जाते थे। रण में, स्यन्दनों के पीछे चिकित्सकों का रथ आहार, औषधि से भरे रहते थे।

चन्द्र का रथ तीन चक्रों का कहा है। अश्विनी कुमारों का रथ भी तीन पहियों, तीन बन्धों की एक त्रिकोणाकृति है (ऋग्वेद, 1/118/1)। रथ के सूत या सारथी चतुर, समय पर रथी को उचित मार्ग बताने वाले होते थे। वे आयुध-ज्ञाता भी होते थे। रण में गर्गरी, गोध, या चतुर्दिक ध्वनि से भी उनके अश्व बिदकते न थे। कभी 'कोणाघात' होता। एक साथ 1000 भेरियों का रव भी उन्हें विचलित न कर पाता। जयद्रथ वध की घड़ी में अर्जुन के रथ-चालक कन्हाई ने वाण-प्रहार कर, धरा से जल निकलवा, अश्वों को नहलाया, जल पिलाया। सारथी रण में, रात में, रथ पर पंच-प्रदीप जलाते थे। चालक रथ की अति, प्रत्यागति, वीथी आदि चालन गतियों से अभिज्ञ थे। रथ के दोनों ओर रक्षक या 'परिष्कार' चलते थे। 'अथर्व वेद' में उन्हें 'परिष्कन्द' कहा गया है (अथर्ववेद, 15/2/6, तथा, 'महाभारत', भीष्म पर्व, 18/16)। इससे इस परम्परा के पुरातन होने का आभास होता है। ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर भी चल सकने वाले रथ सर्वपथीन कहाते थे। उनके कुशल सारथि 'सर्व-पत्रीण' कहे गये। लम्बे रथ अनुगव कहे जाते थे। (रथ-समूह को 'रथ्या' या 'रथकट्या' कहा जाता था) पाणिनि, (अष्टाध्यायी 4/2/50-51)। खच्चरों को अति तीव्रगामी, तथा बलवान माना जाता था। संकर मेल से उत्पन्न होने वाले खच्चर की जन्म गाथा भी अद्‌भुत है। उनका प्रसव अन्य प्राणियों की तरह सामान्य नहीं होता। वे माता का उदर फाड़ कर जन्म लेते हैं। प्रसव के साथ उसे जन्म देने वाली घोड़ी का जीवन भी समाप्त हो जाता है। (वाल्मीकि रामायण, 3/43/4)। समर में अनेक प्रकार की ध्वनि से घोड़े न भड़कें, इसके लिये उन्हें विशेष प्रशिक्षित किया जाता था। युद्ध-रथ में संयुक्त किये जाने वाले ऐसे हय 'विधेय' तथा 'विनीत' कहे जाते थे। ऊँटों तथा खच्चरों वाली टुकड़ी उष्ट्रकाभि कहलाते। गो-रथ या बहली सामान ही नहीं ढोते, उत्सव में सज्जित होकर शोभा के आधार आज भी होते हैं। गज-रथ भी शोभा के आधार थे, और हैं। गज-रथ की चर्चा 'महाभारत' में भी है (महाभारत, उद्योगपर्व,155/4-12)। भारत के अनुकरण में, रोम में भी सम्राट के रथ में सज्जित हाथी जोतने के प्रमाण प्राप्त है। अकबर को गज-रथ प्रिय था। उसे उसके आविष्कारक के रूप में 'आइन-ए-अकबरी' में प्रचारित किया गया है। यात्रा के लिये प्रस्तुत उसके गज-रथ में एकाधिक कक्ष एवं स्नान गृह भी होता था। वायु-वेग वाले विशाल हय-रथों में शय्या, रत्न-दीप रहते थे। उन्हें कनक-कलश, मणि-दर्पण, मणि-माला, चित्रों आदि से सजाते थे।

राज्य-सभाओं के शास्त्रार्थ में विजेता विद्वान का रथ-चालन राजा करता था। देवता की शोभा यात्रा का वाहन 'देव-रथ' कहा जाता था। कौटिल्य ने अन्य प्रकार के रथों का भी उल्लेख किया है। सामान्य यात्रा का अनुकूल सुविधा वाला रथ पारियानिक कहा गया है। 'परपुराभियानिक' रथ टैंक के समान दुर्ग तोड़क था। अश्वों को प्रशिक्षित करने के लिये 'वैनयिक' रथ थे (अर्थशास्त्र, कौटिल्य 3/33/49/15)। अजातशत्रु ने वज्जियों के संहार के लिये अति भयानक 'रथमुशल' तथा 'शिलाकण्टक' नाम के संहारक रथों का निर्माण कराया था। प्रथम में मूशल लगे थे जो रथ गतिमय होने पर शत्रु संहार करते थे। दूसरा प्रक्षेपण यन्त्र से शिला-खण्ड फेंकता था। 'अग्नि-भीरु' रथ पर आग का प्रभाव न पड़ता था। वह उस समय का अग्निशामक टैंकर था। उज्जयिनी के प्रद्योत के पास ऐसा रथ संकेतिक है।

वन-यात्रा के लिये 'गोष्ठी-यान' प्रयोग में आता था। वह बहुविध सज्जित रहता था। महिलाओं का विशिष्ट रथ 'कर्णी-रथ' कहा जाता था। 'राजतरंगिणी' के मत से कश्मीर के शासक ललितादित्य की विजय यात्रा में सवा लाख कर्णी-रथ साथ चलते थे। कुल-वधुओं तथा रूपाजीवाओं के कर्णी-रथों में एक अन्तर होता था। रूपांगनाओं के वाहन पर भिन्न प्रकार का ध्वजा लहराती थी। वस्तुतः कर्णी रथ में नाम मात्र के लिये रथ शब्द का संयोग होता था। वे मानवों द्वारा ढोये जाने वाले शिविका या पालकी जैसे वाहन होते थे। रूपसियों का रथ होने से उनमें दर्पण तथा अन्य सज्जा होती ही थी। उसी सज्जा और गतिमयता से उन्हें भी रथ कहा जाने लगा। पालकी भी नरपाल की सवारी

रही है। आज भी देवताओं के लिये सज्जित पालकी चलती है। देवताओं के कोषाध्यक्ष कुबेर तो 'नर-वाहन' कहे जाते हैं। उनका यान मानव ही ढोते हैं। 'हलायुध कोष' (पृ. 207) में उल्लेख है– *कर्णीचासौ रथश्चेति शब्दमात्रेण रथो न। वस्तुतः पुरुषस्कन्धनीयमानरथः।* वे मानव-कन्धों पर ढोये जाने वाले वाहन थे।

'मानसार' में रथ निर्माण का उल्लेख विस्तार से हुआ है। उसमें रथ के विभिन्न अंगों; यथा चक्र, कुक्षि, अक्ष, शिखा छिद्र, दन्त, कील आदि का भी सूक्ष्म उल्लेख है। रथों में 'भद्र' या महराब भी बनाये जाते थे। उनमें नौ तल तक होने की सम्भावना की गई। आकार के अनुसार उनके वर्ग थे-नभस्वद्, भद्रक, प्रभंजन, निवातभद्रक, भवनभद्रक, पषद्भद्रक, इन्द्रकभद्रक तथा अनिलभद्रक। पहला रथ चौकोर, दूसरा षटकोणक होता था। भद्रकों के अनुसार वे भिन्न होते। छठा, दस और अन्तिम बारह भद्रकों का होता था। नित्य उत्सव में पाँच और महोत्सव में 6 से 10 रथों तक का योजन होता था। सांग्रामिक रथ फलकमय वेदिकाओं से युक्त रहते थे। रथ का पृष्ठ भाग रथोपस्थ कहा जाता था। रथी घायल हो जाने पर उस भाग में आराम करता था। पहिये के मध्य की गोल लकड़ी 'नाभि' और बाहरी गोलाकार लकड़ियों को नभ्य कहा जाता था। नाभि तथा 'नभ्य' को जोड़ने वाले 'अर' कहलाते थे। नाभि के बीच के छिद्र को 'अक्ष' नाम दिया गया है। उसी में 'अर' को डाला जाता था। अक्ष में धुरा रहता था। अक्ष लोहे का और धुरा लकड़ी का बना होता था। कमजोर अक्ष को 'कक्ष' कहा गया हैं।

वैदिक साहित्य में तीन बैलों वाले 'पुष्टिवाही' रथ का भी उल्लेख है, पाणिनि ने उसे प्रष्ठ कहा। राजतरंगिणी में उसका उल्लेख 'युग्या' कह कर हुआ है। रथ की रक्षा के लिये दस हाथी, 100 अश्वारोही तथा सहस्र पैदल रहते थे। महाभारत काल तक रथों का अन्यतम महत्व था। मैक्रिंडिल ने भारतीय रथ के छः रक्षकों की चर्चा की है। उनमें दो सारथि, दो ढाल वाले, और दो धनुर्धर होते थे (सिकन्दर का आक्रमण, पृ.260)। रथ पर आरुढ़ होने के विधान थे। पहले वाहन पूजा का नियम था। स्नानपूजा के बाद रथी प्रार्थना करता। दान देकर कवच पहनता। इसके उपरान्त मधुपर्क एवं कैरातक पान करता। कुमारियाँ माला पहना कर, लाजा-वृष्टि करती थीं (महाभारत, शान्ति पर्व, अध्याय, 95)। कैरातक ओज तथा स्फूर्ति के लिये अपेक्षित था। इसी कारण भीम अर्जुन के लिये मधुपर्क और कैरातक ले जाते हैं (महाभारत, द्रोण पर्व, अध्याय, 128)। रथ पर आरूढ़ होते ही वीर परम उत्साह में भर जाता था। रथ पर आसीन होते ही सव्यसाची कहते हैं, मैं पर्वत भी तोड़ डालूँगा (महाभारत, विराट् पर्व, 65)। विष्णु और वामन पुराण में रथ-युद्ध के एकाधिक उल्लेख हैं। चालक की निपुणता, तथा अपने कौशल से रथी चलायमान रथ पर पर्जन्य, आग्नेय, वायव्य, सलिल आदि दिव्यास्त्रों का सफल प्रयोग कर लेता था।

रथ-सेना में अधिकारियों के पद इस प्रकार थे रथोदार, रथ, अतिरथ, अर्धरथ, रथयूथप आदि। दस सहस्र धनुर्धरों से एकाकी लड़ सकने वाला 'महारथी' कहलाता। भीष्म, धृष्टद्युम्न, मत्स्यराज अतिरथी थे। कर्ण अर्धरथ, अश्वत्थामा महारथ, भूरिश्रवा, द्रोण आदि रथयूथप, युधिष्ठिर रथोदार थे। महारथियों के रथ में चार अश्व संलग्न होते। रथयूथप बड़ा पद था। फिर अतिरथ, अर्धरथ, आदि का क्रम होता। सात्यकि, अर्जुन आदि 'रथयूथप' थे। रथी के उपकरण त्रिवेणु, चक्र, तूणीर आदि होते थे। अश्व काले, ऋक्ष, रजत, सारंग, तित्तिर, शुक आदि रंगों के होते। उन्हें ग्रैवेयक तथा अन्य कनक-अलंकारों से अलंकृत किया जाता। सारथि रथ के बायें बैठने से 'सव्येष्ठा' कहलाता था। उसे प्रचेता, सूत, प्राजिता भी कहते थे। रथ में ध्वज का इतना महत्व था कि राजा या सेनानी के रथ का ध्वज कटते ही सेना पलायन करने लगती। भागती फौज पर रथी वार नहीं करते थे।

केल्टिक रथ पर आरूढ़ हो द्रुत गति से शत्रुओं की ओर दौड़ाते थे। कभी रणउन्माद में रथ से कूद कर आक्रमण करते। मद-पान उन्हें उन्मत्त करता। रावण के सैनिक भयानक मुखौटे स्वयम ही नहीं पहनते ये, खच्चरों को भी पहनाते। वे मुख और तन पर काला या नीला रंग पोतते थे। चीनी सम्राट चिन-शीह-हुआंग-टी भी रथ की उपादेयता मानता था। मिस्र निवासी रथ अभियान में अग्रणी थे पर रोड्स के समुद्र ने उनकी गति रोक दी

थी। मिस्र की अपरूप सुन्दरी नेफ्रेतिती अपनी दो पुत्रियों के साथ रथ पर भ्रमण के लिये जाती थी। सुमेरु सभ्यता के रथ के चक्कों में 'अर' नहीं होते थे। उनके स्थान पर वे दो या तीन काष्ठ-खण्डों से जुड़े रहते थे। उनके राजकीय रथों में रत्न जड़े रहते थे। रथ संसार में अनेक स्थानों पर चले। रथ-दौड़ भी होती रही पर 'बृहद्रथ' या बड़े रथ भारत में ही बने। बृहद्रथ और दशरथ से नरपति भी यहीं हुए।

पाण्डवों को जब भूमि मिल गयी। राजधानी के चयन के समय गोविन्द की मन्त्रणा ली गयी। यमुना-तट पर ही राजा सुदर्शन ने खाण्डवप्रस्थ नामक छोटा-सा राज्य स्थापित किया था। उसे हरिप्रस्थ तथा इन्द्रप्रस्थ नाम भी दिये गये। वहीं खाण्डवारण्य नामक विकट कान्तार था। वह बीहड़ वन इन्द्र को अति प्रिय था। वह प्रायः वहाँ आता था। कृष्ण को वह जंगल पाण्डवों की राजधानी बनाने के लिये उपयुक्त लगा। उस वन को स्वच्छ कर, 'प्रस्थ' या समतल किया जा सकता था। उसे अधिकृत करने का एक कारण और था। वहाँ दानवों, तथा नाग दस्युओं ने अड्डा बना रखा था। अवसर पाते ही वे निकट के नगरों में लूट-मार कर, वन में लुप्त हो जाते। उन दुर्दान्त लुटेरों का विनाश सुरक्षा और शान्ति के लिये अपेक्षित था। उनसे त्रस्त अग्नि ने उन्हें मारने में सहायता का वचन दिया। गोविन्द को चक्र तथा रथ दिया। पार्थ के लिये तरु की जड़ से बना, सोम-निर्मित 'गाण्डीव' धनु प्रदान किया। उसका निर्माण वरुण हेतु हुआ था। वरुण से प्राप्त वही प्रचण्ड शरासन अब अर्जुन को हस्तगत हुआ। विरोधी भाग कर,अन्यत्र न जमें। अन्यथा समस्त प्रयास पर अनायास पानी फिर सकता था। मेधावी माधव तथा फाल्गुनी ने मन्त्रणा की। इसके लिये अरण्य को धनुर्धरों से युक्त रथों से घेर कर खाण्डवारण्य को जला दिया गया। वहीं मय नामक अति कुशल वास्तुकार बन्दी हुआ। अपनी कल्पनाशीलता से वह शिल्पी 'महाकवि' कहलाता था। कर्म और कल्पना का सुन्दर समन्वय। गोविन्द ने उसे पाण्डवों के लिये यान के आकार का सभा-मण्डप बनाने का आदेश दिया।

महाराज बालि का निधन हुआ। लक्ष्मण ने अंगद को माल्य, वसन, चन्दन लाने के लिये कहा। शव-पेटिका त्वरित ले आने हेतु तार नामक वानर को आदेश दिया। वही वहाँ का रक्षक और प्रबन्धक था। भारी वाहन वहन करने में सक्षम सैनिकों के साथ जाकर वह उक्त शव-पेटिका ले आया। भद्रासन बिछी पालकी का आकार रथ के समान ही था (स्यन्दनोपाम्, वाल्मीकि रामायण', किष्किन्धा काण्ड, सर्ग 25:22)। रथ में जाल और खिड़कियाँ बनी थीं। बाहर मनोरम चित्र थे। कहीं क्रीड़ा-पर्वत पर सुमन खचित थे। मन-हारी फूलों को श्वेत, लाल, पीत चन्दन से रंजित किया गया था। कहीं पैदल सैनिक चल रहे थे। अन्ततः वह वीर का वाहन था। लाल कमलों से आवृत रथ के पीछे रानियाँ रुदन करती चल रही थीं। अलंकार लुटाये गये। तुंगभद्रा के तट पर अन्तिम संस्कार एवं जलांजलि के बाद सब लौटे।

जीवन भर साथ देकर अन्तिम पल में रथ कैसे छोड़ देता? चिता पर पहले भी शूर का धनु-वाण रखने की प्रथा थी (ऋग्वेद,10:18:9)। कालान्तर में, तन को स्नान करा कर, फूल-मालाओं से सज्जित्त किया जाने लगा (प्रेतदेहं शुभैः स्नानैः स्थापितं स्रग्विभूषितं, 3/13/8, विष्णु पुराण)। काल-चक्र के क्रम में दशानन भी काल-कवलित हुए। तन तीरों से ही भरा था, जैसे सेही की देह कॉटों से पूरित रहती। शवरथ में रंकु मृग का चर्म बिछा कर शरीर रेशमी चादर से ढका। स्वर्ण का शव-यान पताका, फूलों,मणि-मालाओं से सज्जित था। (वाल्मीकि रामायण युद्ध-काण्ड 111-104)। उसे दक्षिण दिशा से रावण-गंगा के तट पर रचित चिता के निकट लाया गया। प्रथम लंकेश के दायें कन्धे पर दही मिला घी डाला गया। मृगचर्म घी से तर किया। चरणों पर लघु शकटिका या क्रीड़ा-रथ रखा। विजय-प्रतीक रथ सदा चरणों में रहे। पदों के निकट मुसल था। राज्य में कभी अन्न भण्डार न रीते। मुसल दण्ड का भी प्रतीक है। शत्रु पिसते रहें। चिता में आग लगा दी गयी। भुव में विभव का प्रभु, भूत-भावन के आराधक का भौतिक तन पंच भूतों में लय हो गया। जलांजलि के बाद विभीषण ने रानियों सहित सभी से चलने का अनुरोध किया। रथ आज भी पुरुष और परमेश्वर के मध्य पावन परम्परा, पवित्र प्रार्थना सा प्रतिष्ठित और प्रचलित है। अब अनेक प्रचाररथ एवं चुनावरथ गतिमान हैं। ■

प्राचीन भारत में नौ कला

अन्य अनेक कलाओं की भाँति नौ-कला भी भारत में चरम पर थी। जल-सन्तरण के विभिन्न प्रकारों के साथ रोमांचक जल-यात्राओं के उल्लेख मिलते हैं। व्यापार तथा मनोरंजन में नौकाओं का कलात्मक विवरण इसकी पुष्टि करता है। मोइन-जोदड़ो से प्राप्त एक आयताकार मुहर में नाव के अंकन से यह प्रमाणित है।

वैदिक काल :- ऋग्वेद में शतारित्रा अर्थात सौ पतवार वाली नौका का वर्णन प्राप्त है (1/116/5)। राजर्षि तुग्र अपने पुत्र भुज्यु को सुदूर द्वीप पर आक्रमण करने के लिये आदेश देते हैं (ऋग्वेद 1/116/3)। उसकी नौका डूब जाती है। अश्विनी कुमारों ने सौ पतवारों वाली नाव लेकर, सबकी जीवन रक्षा की। वरुण समुद्री यात्राओं के ज्ञाता माने गये हैं ऋग्वेद, 1/25/7)। भारतीय नौकायें विदेशों में भी जाया करती थीं (1/56/2)। वशिष्ठ और वरुण साधन-सम्पन्न नावों में यात्रा करते थे (वही (7/88/3-4)।

रामायण-युग :- वाल्मीकि रामायण में नाव ही नहीं, नौ सेना का भी संकेत है। नौकायें ऊपर से आच्छादित रहती थीं (वाल्मीकि रामायण,1/45/6)। भरत राम को मना कर लौटाने जा रहे थे। राम के मित्र निषाद ने समझा, वे राम पर आक्रमण करने जा रहे हैं। उन्होंने तत्काल अपनी पाँच सौ नौकाओं को उनका मार्ग अवरोध करने की अनुज्ञा दी। ऐसी हर नौका पर सौ-सौ सैनिक सशस्त्र सवार थे।

नावां शतानां पंचानां कैवर्तानां शतं शतं। (सन्नद्धां तथा यूनां तिष्ठन्त्वित्यभ्यचोदयत्।। (वही,2/84/8)।

भरत के सदुद्देश्य का ज्ञान होते ही, गुह ने उसके पार उतरने की व्यवस्था की। इस बार सफेद कंबल बिछी, घण्टा, पताकाओं से शोभित विशाल नावों का प्रबन्ध था (वही 2/89/11)। आहार के लिये 'मीन पीन पाठीन' प्रस्तुत थे। गुह के पास तट रक्षक भी थे। बड़ी नौकायें अग्र-मन्दिरा' कहलाती थीं। उनमें आगे के भाग में 'मन्दिर' या लघु कक्ष बने रहते थे। ऐसे जल-वाहनों में नर-नारी ही नहीं, हाथी-घोड़े भी चढ़ा लिये जाते थे। राज परिवार के लिये बड़े घण्टों से सज्जित, 'स्वस्तिक' के आकार वाली, पताकाओं से सज्जित 'स्वस्तिक' नौकायें लाई गई थीं– *अन्या स्वस्तिकविज्ञेया महाघण्टाधराधराः। शोभमानाः पताकिन्या युक्तवाहाःसुसंहताः।। (वही, 2/89/11)।*

भरत की सेना को पार उतारने के बाद उन नौ-चालकों ने नौ-चालन की नाना क्रियायें और कलायें दिखाई थीं (वही, 2/89/18)। 'घाट' के लिये 'तीर्थ' तथा तट रक्षकों के लिये 'नदी-रक्ष' शब्द प्रचलित थे। पतवार के लिये 'कर्ण' तथा 'डांड़' हेतु 'स्फाय' शब्द थे। बेड़े को 'प्लव' कहते थे। जिस तट तक नौका लग सकती थी, उसे 'नाव्य' की संज्ञा दी जाती थी। 'उत्संग' या उडुप आकार में लघु नौकायें थी। घड़ा उलट कर, उससे बांस बांध देते थे। उस घट-नौका पर विदा ले राम-लक्ष्मण कालिन्दी के किनारे आते हैं। सूखे बांसों का बेड़ा बना कर, लक्ष्मण बेंत तथा जामुन की नरम टहनियाँ बिछा कर, कोमल आसन बनाते हैं। बैठने की बाधा आसान हो गई। समय पर औसान ही काम आता है (वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड, 55/14-15 श्लोक)।

स्वर्ण-हंस, जल-दस्यु और अगस्त्य

भारत पुराकाल से स्वर्ण-हंस पाल रहा था। उसकी पाल लगी नौकायें ही वे स्वर्ण हंस या सोना पांखी थीं। पाल के पंख पसारे, विदेशों में जाकर, मोती और मसालों का मोल करतीं। लौटते समय उनकी मोद भरी गोद में माणिक होता, सोना रहता। आरव्य तथा सिन्धु के उत्तम अश्व होते। वे मयूर जैसे पाखी ही नहीं ले गये, वनराज का भी वहन किया। जनता सरकश न हो, इसलिये सर्कस के खेलों की व्यवस्था की थी। उसके लिये भारत से सिंह का आयात नीरो ने किया था। नाविकों का पथ सहज न था। उत्ताल तरंगों की ताल पर साहस से गीत गाते वे बढ़ते जाते। मार्ग भटकने या दिशा-भ्रम होने पर पिंजर-बद्ध काक छोड़े जाते। पास कोई टापू होता तो वे उस ओर उड़ जाते। अन्यथा 'उड़ि जहाज को पंछी, फिरि जहाज पर आवै।' बौद्ध-ग्रन्थों में जल-परियों के प्रलोभन की गाथायें हैं। वे मोहिनी मत्स्य-कन्यायें किसी जल-मग्न गिरि के शिखर पर बैठ मधु-स्रावी स्वर में गीत गातीं। विसुध कैवर्त डाँड़ चलाना भूल, उस ओर नौका बढ़ाते। नाव चट्टान से टकरा चूर हो जाती। कभी आकर्षण में खोये, वे जल में कूद पड़ते।

जलदस्युओं के आतंक से रक्षार्थ व्यापारियों का सार्थवाह धनुर्धरों की टुकड़ी लेकर चलता। व्यवसायी पणि थे। स्थल या जल धानुष्कों का प्रबन्ध करना ही पड़ता

था। सारा व्यापार पणिक या वणिक करते। उनसे ही पणिज, वणिज और वाणिज्य शब्द प्रसूत हुये। वरुण के आराधक पणि अगस्त जी के भी भक्त थे। वे उन्हें अपने उत्सवों में बुलाते थे। उदयन या अगस्त्य वरुण के अभिन्न थे। वे 'वरुण-अंग' कहाते थे। जल में उनकी सुरक्षा के लिये उन्होंने अपने आश्रम के विभिन्न विभागों में कौवेर-विभाग भी स्थापित किया। वहाँ जल-सन्तरण,नौ-चालन की शिक्षा दी जाती थी। अगस्त्य की प्रेरणा से कुछ कैवर्त चम्पा गये। वहाँ की 'कवि', भाषा सीखी। वहाँ के पोतों की दृढ़ता की प्रशंसा अगस्त्य ने सुनी थी। उन नावों के आ जाने पर, कालेय या कालकेय जल-दस्युओं का आतंक कम हुआ। अब कावेरी पट्टन से 'सत्थवाह' चलने लगे। केरल के सुचिरि, पण्डिय के पट्टनों से भी सार्थवाह चले। व्यापार बढ़ा। अब विना भय पण्यकंबल, लवण, तगर, गुग्गुल, लाक्षा, कपि, तिल भी जाने लगा। मिस्र के शासक बेनीपाल ने कपास के पौधे मंगाये। कर्णिका,ललाटिका जैसे आभूषण भी जाने लगे। मैक्सिको से माक्षिक,पेरू से पारिज स्वर्ण आने लगा। कालकूट से कालरूप कालेयों के जल-दुर्ग ध्वस्त कर दिये गये। अगस्ति के पराक्रम की चर्चा सुन सीजर ने अपना नाम 'आगस्तस' रखा। उन्होंने सागर के विष (जल) का शोधन कर डाला, दूर तक विपत्ति से रहित। कहा गया, उन्होंने 'सागर पी डाला, वे दक्षिण-विजेता' कहाये ब्रह्म पुराण 18/159)।

महाभारत में यन्त्र नियन्त्रण :- 'महाभारत' में भी नौ-कला का पर्याप्त विवरण प्राप्त है। सहदेव ने सागर द्वीपों के वासी राजाओं को पराभूत किया था। सभा-पर्व में इसका उल्लेख है (सागरद्वीपवासांच नृपतीन म्लेच्छ्योनिजान्)। नौ-सेना के अभाव में इस अभियान को प्रभाव दे पाना सम्भव न था। 'कर्ण पर्व' में समुद्र मार्ग द्वारा व्यापार, तथा वणिकों के जलधि में आपत्ति ग्रस्त होने की घटनायें भी संकेतित हैं (विपन्नावो वणिजो यथार्णवात)। पाण्डवों की प्राण-रक्षा के लिये विदुर ने एक नौका भेजी थी। वह नाव न केवल यन्त्र से नियन्त्रित होती थी, अपितु मन जैसे वेग वाली थी। 'मनोमारुतगामिनी' होने के कारण वह विलक्षण वाहन वायु की प्रतिकूलता भी सह सकता था। (सर्ववातसहा नावं यन्त्रयुक्ताम् पताकिनीं,' महाभारत, आदिपर्व)। उनमें लगे मात्स्य-यन्त्र से दिशा-बोध भी होता था।

नावों का बीमा :- पुरा काल में व्यापार समुन्नत था। नौ-व्यापारियों के संघ थे। नावों तथा उन पर लदी सामग्री का बीमा होता था। नाविकों की त्रुटि से सामग्री की हानि हो तो *नाव वाले को अपने अंश से भुगतान करना पड़ता था- "यन्नावि किंचिद्दशानां विशीर्यतापराधतः। तद्दांशैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोऽशतः।। एव नौयायिनामुक्ता व्यवहारस्य निर्णयः। दासापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः।। ('महाभारत', 8/408/9)*

सहस्त्रबाहु का यथार्थ रूप :- पुराणों में भी नाना नौका-भेद तथा नौ-सेनाओं के विवरण हैं। सहस्त्रबाहु के हजार भुजाओं के होने का भ्रम न करें। वह वस्तुतः हजार पोतों का स्वामी होने का संकेतक है। 'बाहू' शब्द 'सेना' का भी वाचक है। सेना नृप की भुजा होती हैं। सेना के साथ समुद्र का उल्लेख मत्स्य पुराण में है। वह इन भुजाओं से सिंधु को मथ देता था (अध्याय 43/6-40)।

नौका पर नानाविध प्रासाद :- नौकाओं पर विविध आकृतियों के कक्ष निर्मित होते थे। हरिवंश पुराण में कैलाश, पक्षी, मृग, गरूड़, शुक, गज आदि के आकार के भवनों का उल्लेख है (288/56-61)। पौराणिक काल में आकार में लघु नौका 'पोत' कहाती थी। जलक्रीडा हेतु अपेक्षित सामग्री वहन करने वाली नौका 'यान-पात्र' था। 'नृत्य-गीत' के अनुरूप विशाल नाव झिल्लिका थी (हरिवंश, 2/88/63)। उनमें उपवन, रथ, ताल भी होते थे। हरिवंश, 2/88/65-67), वे मणिमय चित्रों तथा नाना प्रकार के तोरणों से सज्जित रहतीं। कश्मीर-नरेश प्रवरसेन ने सर्वप्रथम वितस्ता पर विस्तृत नौका-पुल बनवाया (राजतरंगिणी, 3/354)। विस्तृत और वेगवती नाव को ही 'नौका' की संज्ञा दी जाती थी।

जातकों में नौ-वहन :- बौद्ध जातक कथाओं में सागर-यात्राओं के अनेक उल्लेख हैं। एक बार बढ़इयों का पूरा गाँव बड़ी नाव पर भाग निकला था। (जातक कथा, 4/159)। सिन्धु-पार के यात्री नदी-मार्ग से वाराणसी तक आ जाते थे। पाँच सौ मनुजों के बैठने योग्य तीस पतवारों वाली नावें भी चलती थीं। भृगुकच्छ या भड़ौंच से स्वर्ण द्वीप तक नावें चलती थीं। विद्वान स्ट्रैबो ने आमू नदी से कैस्पियन सागर तक भारतीय वाणिज्य के प्रसार का उल्लेख किया है।

व्यापार करने वालों के संघों के भी उल्लेख हैं। यात्रा प्रारम्भ के पूर्व सार्थवाह पोत को पुष्प-बलि देता था। नाव पर लाल चन्दन की थाप लगा, समुद्र-पूजा होती। ध्वजारोहण कर, पालें चढ़ा दी जातीं। बाजे बजते। शुभ शकुन में यात्रा प्रारम्भ हो जाती। सार्थवाह में निर्यामक (पोत-वाहक), कर्णधार (नाविक), (कुखि-धारक) (डाँड़ सँभालने वाले) गर्भिज्जक निम्न भाग की देखभाल करने वाला मल्लाह होते थे। यात्रा हेतु राज्य से 'राज्यवर शासन' या आज्ञा-पत्र लेना पड़ता था। धनुर्धरों और अन्धे किन्तु कुशल मार्ग-निर्देशकों की भी चर्चा है।

विनय पिटक में पूर्ण नामक व्यक्ति की छः समुद्री यात्राओं का वर्णन है। राजवललीय में विजय की सिंहल-यात्रा के समय उसके साथ सात सौ कुमारी दासियाँ, रत्न-तपिटिका और राज-कन्या भी थी। 'सुत्त पिटक' एवं 'महावंश जातक' में भी ऐसी यात्रायें वर्णित हैं।' वृत्त निकाय' (3/115) अंगुत्तर निकाय (4/27) तथा 'दिग्ध निकाय' (1/222) में दिशा-भ्रम होने और पक्षियों से ठीक मार्ग ज्ञात होने की चर्चा है।

बावेरू जातक में बावेरू या बेबीलोन से मोरों का व्यापार होने का संकेत हैं। 'सुप्पारक जातक' (4/138) भरुकच्छ के सात सौ व्यापारियों की अद्भुत यात्रा का वर्णन करता है जो निर्देशक के दृष्टिहीन होने पर भी कहीं भटके नहीं। महाजनक जातक में चम्पा से स्वर्णभूमि (बर्मा) की यात्रा करते राजपुत्र की गाथा है। 'शांख जातक' (6/15-17) में एक विप्र की सिन्धु-यात्रा वर्णित है। काशी-वासी यह द्विज नित्य छः लाख का सोना दान करता था और नाव में छिद्र होने पर एक मत्स्य-कन्या ने उसकी जान बचाई। सुसोन्दि, तंडुलनालि, सुहनु आदि जातकों में नोकाओं से अश्व-व्यापार की चर्चा है। शांख जातक में 800 हाथ लम्बी, 600 हाथ चौड़ी, 20 हाथ ऊंची और तीन मस्तूलों वाली नावों का वर्णन है।

महाकाव्यों में नौ वहन :- कालिदास ने रघुवंश में बंग देश की नौ सेना का उल्लेख किया है, (4/36) उसे रघु ने अपनी नौ-सेना से पराभूत कर,गंगा के मध्य विजय स्तम्भ स्थापित किया था। 'शिशुपाल वध' में कृष्ण व्यापारियों को नौका से भारतीय माल ले जाते देखते हैं, वे वणिक द्वीपान्तर के थे (3/76)। 'दशकुमारचरित' का रत्नोद्भव अन्य द्वीप में जाकर विवाह करता है। कथासरित्सागर में भी विदेश से नौ-व्यवसाय की चर्चा है। 'हितोपदेश' में विदेश से रत्न लेकर लौटते वणिक वर्णित हैं। 'राजतरंगिणी' में नाव टूट जाने से एक सान्धिविग्रहिक के संकटग्रस्त होने का वर्णन है (विदेश मंत्री)।

शिल्प और मुद्राओं में प्रमाण :- अजन्ता की गुफा में राजपुत्र विजय की लंका-यात्रा खचित है। 'महावंश' के अनुसार, उसके साथ 1500 लोग थे। अन्य नौकाओं पर गज, अश्व आदि वाहन थे। दूसरी शती की साँची के पूर्वी द्वार के शिल्प में खुरदुरे तख्तों से बनी नाव उत्कीर्ण है। पश्चिमी द्वार पर उरेही नोका मकराकृत है। जावा के बोरोबुदुर मन्दिर में भी एक दृश्य अंकित है, गुजरात का युवराज संकट झेलता नाव से वहाँ आया था। पुरी के जगन्नाथ मन्दिर में भी इसी तरह का दृश्यांकन है। मुंबई की कन्हेरी गुफाओं में वाशिष्ठपुत्र (133 - 162) तथा गौतमीपुत्र शातकर्णी द्वितीय के शिलालेख हैं, उनमें डूबते जनों के पद्मपाणि से प्रार्थना करने और उनके द्वारा रक्षण का चित्रण है। अजन्ता में कीड़ा-नौकाओं का और सॉची स्तूप पर व्याघ्र-मुखी नावों का अंकन है। आन्ध्र के पुराने सिक्कों पर जलयान एवं नौ-यात्रा उत्कीर्ण हैं।

मनु ने सिन्धु-यात्री विप्रों को श्राद्ध के अयोग्य माना है (3-158)। 'बौधायन धर्म-सूत्र' में सागर-गमन से जाति नष्ट होने की बात कही गई है (2-2-3)। फिर भी अनेक ब्राह्मण विदेश संस्कृति के प्रचार और देवालयों की देखभाल हेतु गये। चन्द्रगुप्त मौर्य ने भी नौ सेना सुदृढ़ की थी (विंसेण्ट स्मिथ-अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' पृ132)। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में नौ-निर्माण की विस्तृत चर्चा के साथ नौ परिवहन पर एकाधिकार का संकेत है (2-28)। अधिकारी नावाध्यक्ष होता था। नौ-सेना पहरा देने के साथ सामग्री पहुँचाती थी। (चन्द्रगुप्त मौर्य, राधाकुमुद मुखर्जी, पृ 238)।

नावों के भेद :- 'पातंजल महाभाष्य में विभिन्न नावें उल्लिखित हैं। उडुप छोटी नाव थी (4/4/5) इसे आज की चम्बल में चलने वाली 'कौआ' कह सकते हैं। 'भस्त्रा' मशक सी थी। लकड़ी के बड़े गोले को खोखला कर उत्संग बनती थी, यह गेंद के आकार की होती थी। बॉस की 'पनसुइया' 'पिटक' कही जाती थी। 'मछुआरों

की लम्बी नौका उत्पट थी (4/4/15)। 'युक्तिकल्पतरु' में नौ निर्माण पर विस्तृत चर्चा है। नौ निर्माण हेतु चार वर्णों के सदृश चार तरह की लकड़ियाँ उल्लिखित हैं– ब्रह्मण काष्ठ कोमल, हल्का और 'सुपट' या जोड़ने में 'सुकर' माना गया। हल्का और दृढ़ काठ क्षत्रिय कहा गया। वैश्य काष्ठ मृदु और भारी एवं भारी काठ को शूद्र कहा गया। दो गुणों वाली मिश्रित लकड़ी 'द्विजाति' हुई। समुद्र-यात्रा वाली नावों में लोहे की कील का प्रयोग वर्जित था, उनसे चुंबकीय चट्टानों से खिंच कर, टकराने का भय था। नदियों तथा सागर के अनुसार इनके सामान्य और विशेष भेद किये गये थे–

नाम	**लम्बाई**	**चौड़ाई**	**ऊंचाई**
क्षुद्रा	16 हाथ	4 हाथ	4 हाथ
मध्यमा	24 हाथ	12 हाथ	8 हाथ
भीमा	40 हाथ	20 हाथ	20 हाथ
चपला	48 हाथ	24 हाथ	24 हाथ
पटला	64 हाथ	34 हाथ	32 हाथ
भया	72 हाथ	36 हाथ	36 हाथ
दीर्धा	88 हाथ	44 हाथ	44 हाथ
पत्रपुटा	96 हाथ	48 हाथ	48 हाथ
गर्भरा	112 हाथ	56 हाथ	56 हाथ
मन्थरा	120 हाथ	60 हाथ	60 हाथ

इनमें भीमा, भया और गर्भरा अशुभ मानी गईं। सिन्धु-यात्रा के उपयुक्त दीर्घा थी, उसके दस भेद थे–

दीर्घिका	32 हाथ	4 हाथ	3 हाथ
तरणी	48 हाथ	6 हाथ	4 हाथ
लोला	64 हाथ	8 हाथ	6 हाथ
गत्वर	80 हाथ	10 हाथ	8 हाथ
गामिनी	96 हाथ	12 हाथ	9 हाथ
तरी	112 हाथ	14 हाथ	11 हाथ
जंधाला	128 हाथ	16 हाथ	12 हाथ
प्लविनी	144 हाथ	18 हाथ	14 हाथ
धारिणी	160 हाथ	20 हाथ	16 हाथ
वेगिनी	176 हाथ	22 हाथ	17 हाथ

आजोग किसर भी नौका के लिये तरी, तरणी आदि का प्रयोग कर देते हैं, उनका अन्तर जानना अपेक्षित है। दीर्घा के भेदों में लोला, गामिनी एवं प्लविनी दुखद मानी गईं। सिंधु यात्रा हेतु उपयुक्त 'उन्नता' के पांच भेद थे–

ऊर्ध्वा	32 हाथ	16 हाथ	16 हाथ
अनूर्ध्वा	48 हाथ	24 हाथ	24 हाथ
स्वर्णमुखी	64 हाथ	32 हाथ	32 हाथ
गर्भिणी	80 हाथ	40 हाथ	40 हाथ
मन्थरा	96 हाथ	48 हाथ	48 हाथ

इनमें भी ऊर्ध्वा उत्तम तथा अनूर्ध्वा, गर्भिणी मन्थरा को निकृष्ट बताया गया है। सुखकर तथा सुन्दर बनाने के लिये उन्हें कनक, रजत और ताम्र से सज्जित किया जाता था। चार मस्तूलों वाली नाव को श्वेत, दो वाली पीत, तीन वाली लाल और एक ही मस्तूल वाली नौका नीले रंग से रंगी जाती थी। केशरी, महिष, नाग, गज, बाघ, पक्षी, मेंढक तथा मानव में ये आठ नौका-मुख के भेद माने गये हैं– *केशरी महिषो नागो, द्विरदो, व्याघ्र एव च। पक्षी,भेको,मनुष्यश्च एतेषां वदनाष्टकम्।।*

कक्ष के अनुसार भी 'सर्वमन्दिरा', 'मध्यमन्दिरा' और 'अग्र मन्दिरा' ये तीन भेद थे। सर्व मन्दिरा पूरी तरह आच्छादित रहती थी। कोष रखने तथा महिलाओं के लिए 'सर्वमन्दिरा' में चारों ओर कमरे रहते थे। अश्वों के लिये 'सर्वमन्दिरा' कुछ भिन्न होती थी। वर्षा काल और राजा की विलास-यात्रा के लिये मध्य-मन्दिरा थी (राजां विलासयात्रादि वषार्सु प्रशस्यते)। चिर कालीन प्रवास एवं युद्ध हेतु 'अग्रमन्दिरा' प्रयुक्त होती थी (चिरप्रवासयात्रायां रणे काले धनात्यये)।

मुगल काल में नौकायें :- हैमिल्टन के अनुसार, मध्य युग में भी भारत में 200 यात्रियों के वहन योग्य नावें बनती थीं। कुछ जहाज कमरेनुमा आकारों को मिला कर बनते थे, इससे एक भाग नष्ट होने पर, दूसरे में व्यवस्था हो जाती। उस युग में नौ-निर्माण के केन्द्र कश्मीर, लाहौर, मुल्तान और इलाहाबाद आदि थे। अबुल फजल ने शाही नावों पर सजावट किये जाने तथा उन्हें कक्ष-युक्त किये जाने का उल्लेख किया है। हुमायूँ ने 'कस्र-इ-रवाँ' नामक चल नौका-पुल आविष्कृत किया था। इसमें नावों को हुकों से जोड़ देते थे। सेना के नदी पार करने के लिये इन पर तख्त जड़े जाते थे, इनसे घुड़सवार भी पार हो जाते (कानून-इ-हुमायूँ)। 'कस्र-इ-रवाँ' पर सोने का गुम्बद बना रहता। उसे समेटा और

फैलाया जा सकता था। विजयनगर में बेंत की बनी पनसुइया नाव चलती थी। चमड़े से मढ़ी इस नौका पर 20 तक यात्री सवार हो सकते थे, कभी-कभी पशु भी ले जाये जाते।

मनोरंजन हेतु लम्बा, 30 डांड़ों वाला, नाना चित्रों से चित्रित, 'मोरपंख' बजरा था। बनारसी बजड़े-सा यह मण्डप युक्त होता। कामा नदी के तट पर जहाँगीर ने बॉस और घास के बने 'घण्डैल' देखे थे, उन्हें वहाँ शाल या साल कहते थे, पथरीली सतह वाली नदियों में यह घण्डैल या घन्नई काम आती (जहाँगीरनामा)। बंगाल में सोने-चाँदी की बैठक वाली 'कोशा' प्रयोग में आती। हुमायूँ ने दो मंजिला चार बजरे बनवाये थे। नावों को खास ढंग से मिलाने पर अठकोणी हौज बन जाता था। उन नौका-कक्षों की सुन्दरता पर शायर उवेत ने शेर कहे थे (अकबरनामा)। नौकाओं पर तैरते बाजार लगते। उनकी झलक बाद में काशी के बुढ़वामंगल उत्सव में मिलती रही। नौका-उद्यान भी लगे (अकबरनामा, पृ.360)। मराठा वीर कान्होजी आंग्रे ने भारतीय नावों की द्रुत गति और उनसे वीरों की मार का आतंक विदेशियों के अन्तर पर अनुभव कराया था। ■

विश्व गगन में गतिमान हिमगिरि का गरुड़

एक काली छाया तीर सी नभ को चीर लुप्त हो गई। उसकी गुरु गर्जना से गगन गनगनाया था। गति की गड़गड़ाहट से ओर-छोर थर्राया था। जबर्दस्त पंजे के शिकंजे। बड़े पशु भी पकड़ जायें तो जकड़ ढीली न हो। गर्व की गहन गुफा से शर सा छूटा गरुड़ अद्‌भुत है, अपूर्व है, असाधारण है। सब पक्षियों पर 'गरुआ', इसीलिये 'पक्षिराज' कहलाया। मन सा द्रुत गमनशील, गौरव के रव सा साकार। भारतीय संस्कृति में से गतिमान इस विहग ने विश्व के विशाल आकाश को अपनी गरिमा से आच्छादित किया। सभी पक्षियों में भयंकर, बलशाली तथा वेगवान होने के कारण गरुड़ को 'खगराज' सहज माना गया। यह मांसाहारी है। ग्रेट ब्रिटेन के सुनहले गरुड़ मेमनों पर झपट्टा मारते हैं, भेड़ें असहाय सी देखती रह जाती हैं। यह शिकारी आखेट को खिलौने सा दबोचे किसी तरु की चोटी पर जा बैठता है। कभी उन्हें बहुत ऊंचाई पर बने नीड़ में ले जाता है। वहाँ नन्हे गरुड़-शावकों की आहार-आशा पूरी होती है। दन्त-कथाओं के अनुसार, गरुड़ मानव-शिशु को भी उठा ले जाते रहे। पर ये किंवदन्तियाँ हैं।'महाभारत' के आदि पर्व तथा पद्म पुराण के सृष्टि खण्ड का उल्लेख है कि इसने अपनी जननी से आहार के लिये पूछा। उसने निषादों को उदरस्थ करने के लिये कहा। वहीं उसके पिता कश्यप ने सरोवर में जूझते गज और कच्छप को खाने के लिये कहा। गरुड़ दोनों को विशाल पंजों में दबोच वट-वृक्ष की शाखा पर जा बैठे थे। भले ही इसे अतिशय-कथन मानें, किन्तु इससे इसकी बलवत्ता का आभास तो होता ही है।

भारत में गरुड़ भगवान विष्णु के वाहक तथा वानर उनके सेवक एवं सेनानी माने जाते हैं। पर एक स्थान के गरुड़ मात्र कपियों को ही आहार बनाते हैं। सुनने में, धर्म प्राण भारतीयों को यह कथन अटपटा लगेगा ही। पुराणों का श्रवण करते हम लोगों ने नागों (सर्पों) को ही उनका शत्रु और भोजन समझते रहे। फिलिपाइन द्वीप के गरुड़ों को वानर ही सुस्वादु भोज्य लगते हैं। वहाँ के वनों में छोटी दुम वाले बन्दरों की प्रजाति पाई जाती है। ये ही इनके भोजन हैं। इस द्वीप के गरुड़ों का सिर काफी बड़ा होता है। चोंच बेहद मजबूत और आकार में काकातुए सी। सिर पर पंखों का मुकुट। क्रोध में होने या आखेट पर झपटने पर मुकुट तन जाता है, आकृति भयानक हो उठती है। दूसरों की अपेक्षा इस जाति के गरुड़ों के पंजे अधिक सशक्त होते है। पेड़ों की फुनगियों से शिकार को भाँपते, यह उचित समय पर बिजली सा टूटता है। अन्य वानर चीत्कार करते भागते हैं।

फिलिपाइंस के अतिरिक्त दक्षिण तथा मध्य अमेरिका के गरुड़ भी वानरों के अहेरी हैं। अमेरिका-वासी उन्हें 'चुड़ैल' की संज्ञा देते हैं। किसी सूखे तरु पर बैठे गरुड़ की तीखी आवाज सन्नाटे को चीरती डरावनी लगती है, ध्वनि की भयावह तरंगें। भुरहरे से ही वे वन के ऊपर मंडराते, घेरा सा बनाते हैं। ये अपने से तीन गुना वजनी शिकार उठाने की क्षमता रखते हैं। कभी रीछ भी इनके आहार बन जाते हैं। कस्बों के पास बसे गरुड़ किसानों

की मुर्गियों और बत्तखों को चट करते हैं। समुद्री गरुड़ दक्षिणी अमेरिका के अतिरिक्त प्रायः सभी महाद्वीपों में प्राप्त हैं। इसका भोजन मछलियां हैं। यह सात फीट तक ऊंचा पाया जाता है। सुनहले गरुड़ की ग्रीवा, और सर धूप में सोने से चमकते हैं। इसी कारण इसे 'सुनहला गरुड़' कहते है। एक बार एक सुनहला गरुड़ 120 मील की गति से, हजार फीट ऊपर चार किलोमीटर की परिधि में उड़ता देखा गया था।

विदेशों में गरुड़ को शक्ति, विजय तथा मंगल का प्रतीक भी माना जाता था। जैसे 'मंगल-पाठ' में विष्णु के गरुडध्वज का स्मरण किया जाता है, वही महत्व इसे रोम में प्राप्त था विष्णु के सदृश, यह वहाँ के सबसे बड़े देवता जुपिटर का वाहन कल्पित था। इसी कारण रोम-वासियों ने इसे शक्ति, विजय और मंगल के प्रतीक रूप में अपनाया था। उनकी सैन्य वाहिनी में रुड़ध्वज विजय की प्रेरणा बन कर लहराता था। शोभा यात्राओं में भी इसे महत्व मिलता था। झण्डा-बरदार ऊँचे बाँस पर चाँदी या काँसे का बना गरुड़ लिये गर्व से चलते थे। पाँच हजार साल पहले सुमेरिया-वासियों ने लागाश को अपनी राजधानी बनाया था, अब यह भाग ईराक कहलाता है। सुमेरियन शासकों ने पंख पसारे गरुड़ को अपनी राज्य शक्ति का प्रतीक माना था। रूस के जार (राजा) एवं आस्ट्रो-हंगेरियन राजाओं ने भी गरुड़ को शक्ति तथा मंगल के प्रतिनिधि रूप में मान्यता दी थी। उनके गरुड़ दो शिरों वाले रहते थे। नैपोलियन प्रथम (1768-1821) तथा नैपोलियन तृतीय (1808-73) के शासन काल में फ्रांसीसी सैनिक कांसे के या मुलम्मा चढ़े मुकुट वाले गरुड़ों को सेना की सज्जा में महत्व देते थे। वाहक उन्हें ऊंचे बांसों पर उठाये चला करते थे।

यह शासकों का प्रिय पक्षी रहा। किरगीज तातार इसकी सहायता से हरिण पकड़ते थे। पवित्रता तथा शक्ति का प्रतीक मान्य होने से इसे उड़ाने का अधिकार शासकों को ही सर्वत्र था। इसे आखेट के लिये प्रशिक्षित करना कठिन था क्योंकि इसके पंजों से आखेट को छुड़ा लेना सहज न था।

ईसाई धर्म में भी गरुड़ को धार्मिक प्रतीक के रूप में महत्व प्राप्त था। गिरजाघरों में पाठ-मंच पर पंख फैलाये गरुड़ के आकार बनाये जाते थे। शैतान की कल्पना वहाँ सर्प के रूप में की जाती रही। अदन के बाग में आदम तथा हब्वा में मतभेद उत्पन्न करने वाला सर्प ही था। उसका विनाशक गरुड़ है। इसीलिये पूजा स्थल पर उसका सृजन अपेक्षित था। इसके साथ ही गरुड़ को विख्यात सन्त जॉन का प्रतिरूप भी माना जाता रहा। वहाँ गरुड़ के दोनो बिस्तृत पंख धर्म-ग्रन्थ बाइबिल के दोनों विधानों के प्रतीक रूप में प्रतिष्ठित रहे।

यादवों की शस्त्र-सज्जित तथा प्रशिक्षित अपार वाहिनी का मोह छोड़ कर, फाल्गुनी ने गोविन्द को अपनाया था। उन्हें ज्ञात था नीतिज्ञ तथा मेधावी गोपाल जिस ओर रहेंगे, उसकी विजय होगी, सेना तथा शस्त्र ही सब कुछ नहीं होते। कृष्ण ने विजय के प्रतीक रूप गरुड़ को अपने ध्वज पर स्थान दिया था। 'गरुड़ध्वज' कहलाने में उन्हें गौरव का अनुभव होता था। इन्द्रजयी गरुड़ की सहायता से ही वे स्वर्ग से पारिजात वृक्ष तक लाने में समर्थ हो सके थे। विष्णु ने भी उन्हें सेवक बनाया तथा ध्वज पर प्रतिष्ठित कर, 'गरुडध्वज' के रूप में उल्लिखित हुए।

पौराणिक जीवन-वृत्त :-गरुड़ के जनक, महर्षि कश्यप थे। कश्यपको समाज सेवा के कारण 'अरिष्टनेमि' कहा जाता था । ब्रह्मा ने उनका मानसिक-पोषण किया था। इस कारण वे उनके 'मानस पुत्र' भी कहे जाते थे। वे अग्नि के भी शिष्य रहे। जन-हितार्थ उन्होंने शिव की सहायता से, गंगा का विस्तारण धरा पर किया। उनके नाम पर गंगा 'काश्यपी' भी कहलाई। कल्याण के कार्यों के कारण उनकी गणना प्रजापतियों तथा सप्तर्षियों में हुई। वे परशुराम के भी 'अध्वर्यु' या पुरोहित रहे। दक्षिणा में परशुधर ने उन्हें सम्पूर्ण धरा दी। समाज की एकता तथा बचे क्षत्रियों के रक्षार्थ उन्होंने उनसे अपने दक्षिणा में प्राप्त राज्य से बाहर रहने का अनुरोध किया। अतः परशुराम शूर्पारक (कोंकण का सोपारा) जाकर रहने लगे। देश में रक्तपात के स्थान पर शान्ति छा गई। ऐसे उपकारी पिता के पुत्र थे गरुड़।

कश्यप की दो पत्नियाँ थीं-कद्रु एवं विनता। दक्ष प्राचेतस तथा असिक्नी या पांचजनी की पुत्री कद्रुपरम रुपवती थी, पर एक ही नेत्र वाली थी। कश्यप से उसे अनेक सन्तानें हुई, पर सर्प सी कुटिल। विनता भी दक्ष

की सुता थी। गुणी विनता को वायुयान चलाने में कुशलता थी। उसे पक्षिणी के समान पवन में सन्तरण में सुख मिलता था। सपत्नी कद्रु का आंगन सुतों की किलकारियों से गूंजता देख उसका मन ईर्ष्या से भर जाता था। उसने पति से, कद्रु की सन्तानों से अधिक सबल पुत्रों की कामना की। उन्होंने बालखिल्यों की सहायता से यज्ञ एवं औषधि उपचार किये। विनता ने समय से पूर्व प्रसव के प्रयास किये, डाह से उसका हृदय जल रहा था। परिणामतः सन्तान अपंग हुई। नाम रखा अनूरु या विपाद, उसके तन का कटि से नीचे का भाग विकृत था। प्रतिष्ठा रखने के लिये प्रचारित किया गया कि उसने ऋषियों के दिये अण्डे को समय पूर्व फोड़ दिया था, परन्तु दूसरा पुत्र गरुड़ परम तेजस्वी था। उसके मुख-मण्डल से तेज अग्नि सा बरसता था। उसकी सबने सराहना की।

कद्रु और विनता में मन-मलिनता थी ही एक दिन इन्द्र के सिन्धु देश से आये अश्व उच्चैःश्रवा पर चर्चा होने लगी। कद्रु ने कहा, 'ऊंचे कान वाले उस घोड़े का रंग श्वेत है, पर दुम काली है।' विनता ने विरोध किया। कद्रु बोली, 'यदि मेरी बात मिथ्या निकली तो मैं तुम्हारी दासी बन कर रहूंगी। अन्यथा तुम मेरी सेविका बनोगी'। कद्रु को पता था, दुम श्वेत है। पर वह तो छल से सौत का मुंह काला करना चाहती थीं। उसने पुत्रों की सहायता मांगी पहले वे गरुड़ के भय से नकार गये। फिर राजी हो गये। पुराणकार के मत से, वे घोड़े की दुम से लिपट गये।

दुम इससे काली दिखी विनता परास्त हो, दासी बनी। अब कद्रु और उसके बेटे सर्प सताने लगे। एक बार कद्रु ने नाग-वन जाने की कामना की। गरुड़ को उसे परिवार सहित पीठ पर लादना पड़ा। वह श्रम से घबराने वाला न था। उसने तो भाई अरुण को पूर्व में पहुंचाया था। योगी अरुण तेजस्वी था। लोग कहते थे, उसने योग-क्रिया से सूर्य का तेज पी लिया था। देवों के अनुरोध से उसने भास्कर का चालक बनना स्वीकार कर लिया।

मातृ-भक्त गरुड़ मां की दासता से मुक्ति चाहता था। कद्रु ने इसके बदले अमृत की चाह की। गरुड़ कभी घबराया नहीं। वह देवों के लिये कष्ट सह कर, सोम लाया करता था। इसी कारण 'सोम' को 'श्येनाभृत' कहा गया। देवों को ज्ञात हुआ, पराक्रमी गरुड़ अमृत ले जाने आ रहा है, तो वे रक्षार्थ रण के लिये सन्नद्ध हो गये। युद्ध हुआ। देवराज ने सभी अस्त्र व्यर्थ जाते देख, गरुड़ पर वज्र प्रहार किया, पर हार गया। गरुड़ को वह वार पुष्प-हार सा ही लगा। देवता परास्त हुए। गरुड़ अमृत गुफा की ओर अग्रसर हुआ। उसने देखा, गुफा के मुख पर एक अलात-चक्र है-दहकता, चिनगारियां फेंकता आग का घेरा। बीच से निकलना सम्भव नहीं। चक्र तीव्र गति से घूमता उसे (योग वाशिष्ठ 1/9)। उसने युक्ति से काम लेकर, चक्र के मध्य से, नट की भांति, तन सिकोड़, उसे पार कर लिया। भीतर सुधा-कलश था। किन्तु अमृत-घट के दोनों ओर दो नाग थे। उनके नेत्रों से लपटें निकल रही थीं। जो भी उस ज्वाला मार्ग पर पड़ता, राख हो जाता। गरुड़ न घबराया। तत्काल मुट्ठियों में धूल भर कर, उनकी आंखों में झोंक दी। फिर सुधा-घट लेकर हवा हो गये और विमाता कद्रु को दे दिया, मां विनता दासता से मुक्त हुई। अमृत पीने से पहले कद्रु और उसके पुत्र नाग स्नान करने गये। उसी समय देवराज सुधा-कलश ले भागे।

गरुड़ ने पराक्रम के अनेक कार्य किये। उन्होंने श्रुतश्री, श्रुतसेन, विवस्वान्, रोचनामुख, कालकाक्ष, प्रस्तुत आदि घातक राक्षसों का वध किया, जो जनता को त्रस्त करते रहते थे। सोम तथा अमृत लाये। गोविन्द के साथ स्वर्ग पर आक्रमण कर पारिजात लाये। नरकासुर (नामान्तर भौमासुर) धरती के समस्त सुन्दर पदार्थ, पशु, नारियां हर ले गया था। नील सागर के निकट मूर्तिलिंग या प्राग्ज्योतिषपुर उसकी राजधानी थी। सभी सुन्दर ललनाओं तथा वस्तुओं को उसने अपने 'ओदका' नामक महल में रखा था। पास जाते ही छुरिका फेंकने वाले छः हजार स्व-नियंत्रित जाल नगर के चारों ओर थे। पत्थरों के परकोटे सब पार कर, उड़ती छुरिकाओं से बचाते, गरुड़ ने ही विमान चलाते कृष्ण विष्णु को पाताल गुफा तक पहुंचाया था। तब वे नरकासुर का वध कर पाये थे। विष्णु ने उन्हें अपनी सेवा में लेकर, उन्हें ध्वज पर स्थान दिया। उन्होंने कहा था, जब मैं रथ पर बैठूंगा, तुम्हें ध्वज पर स्थान दूंगा। इस तरह तुम मुझसे ऊंचे रहोगे। वे 'गरुड़ध्वज' कहलाये।

नाम तथा परिवार :- गरुड़ के विविध नाम उनके पराक्रम के सूचक हैं। कश्यप के सुत होने से वे काश्यपि

हैं। मां विनता के पुत्र हैं, अतः वैनतेय हैं। सुपर्ण, ताक्ष्र्य, सितानन, रक्तपक्ष, सुवर्णकाय, गगनेश्वर, खगेश्वर, नागान्तक, पन्नगाशन, सर्पाराति, सुधाहर, सुरेन्द्रजित् वज्रजित्, विष्णुरथ, गरुमत्, कामचारी, तरस्विन (साहसी), क्रौंची, शुकी, श्येनी, धृतराष्ट्री आदि इनकी पत्नियां हैं (ब्रह्माण्ड पुराण, 3/7/448-449)। इनके पुत्रों के नाम हैं-सुमुख, सुनामन, सुनेत्र, सुवर्चस, सुरुप तथा सुचल। 'शतपथ ब्रह्मण' में इसे ताक्ष्र्य या 'पक्षिराज' कहा गया है (13/4/3/13)। सूर्य का प्रतीक मानते हुए, इसका उल्लेख दिव्य अश्व रूप में भी हुआ है (ऋग्वेद, 10-178/1)। पुराणों में भोर की विभोर करने वाली आभा को सोम या अमृत कहा गया है। अब विचार स्पष्ट है। पहले अरुणोदय होता है। वह गरुड़ का बड़ा भाई है। फिर सूर्य या गरुड़ के आविर्भाव के साथ सुधा का संचार-अमृत का प्रसार।

यथार्थ रूप :- पुराणों में गरुड़ का जो आकार प्रस्तुत हुआ है, उसमें वे अर्ध मानव, अर्ध पक्षी हैं। मस्तक, चंचु तथा पंख विहग से एवं इन्द्रियां मनुज सी हैं। विशद अध्ययन उनके मानवीय रूप का ही पोषक है। वे ज्ञानी हैं। गरुड़ पुराण के रचयिता हैं। इस पुराण में रत्न धातु के परीक्षण के साथ तन्त्रों तथा औषधियों की चर्चा है। इसका सत्रहवाँ अध्याय विशेष रूप से आयुर्वेद से सम्बद्ध है। गरुड़रुत् छन्द के प्रवर्तक हैं। गरुडांकित तथा गरुडाश्म मरकत मणि के नाम हैं, यह विष-हारी रत्न है। सर्पचिकित्सक को 'गारुड़ी' कहा जाता था। जैसे नागों के इच्छाधारी होने की धारणा बौद्ध-जातकों से उद्भूत होकर, लोक कथाओं के माध्यम से फैली, उसी प्रकार गरुड़ों के लिये भी कल्पना हुई। जातकों के अनुसार, वे मानव का रूप धर उनसे मित्रता रखते थे। रूपसी नारियों से उनके सम्बन्ध भी हो जाते थे (काकती जातक, 327)। एक गरुड़ मनुज रूप में राजा से नित द्यूत खेलने आता था। उसके व्यक्तित्व ने रानी का मन मोह लिया। बाद में गरुड़ ने रानी से सम्पर्क तोड़ लिया (सुसन्धि जातक, 360)। नाग और गरुड़ में वैमनस्य होते हुए भी, कभी विलक्षण रीति से दोनो टकराते थे। एक बार भीड़ में मनुज रूप में एक नाग राजा की घोषणा सुन रहा था। किसी ने उसके कन्धे पर हाथ रखा। नाग ने पहचान लिया। मानव वेष में उसका शत्रु वैनतेय था। वह पलायन कर, एक मुनि के आश्रय में गया तब रक्षा हुई। गरुड़ मुनियों का सम्मान करते थे (उरग जातक, 1541)

युद्ध में चक-व्यूह की काट में गरूड़ व्यूह की रचना की जाती थी। दक्षिण भारत में गरुड़ की प्रतिमा प्राप्त है। वैष्णव धर्म में अधिक महत्व मिल जाने से विदेशियों ने भी इसे महत्ता दी। यूनानी हेलियोदार ने वैष्णव धर्म अपनाने के बाद विदिशा में गरुड़-स्तम्भ बनवाया था। मलयद्वीप में गरुड़ारूढ़ विष्णु की मूर्ति वाला कणाभूषण प्राप्त हुआ था। विष्णु-मन्दिर के शिखर गरुड़ से सुशोभित होते थे। विजयी पराक्रमी सम्राट समुद्रगुप्त 'गरुत्मदंक' मुद्रा प्रसारित करता था। उसे ग्रहण करने वाला राजा उसकी अधीनता स्वीकार करता था। वास्तु कला में भी इसकी मान्यता थी। 6, 10 या शताधिक खण्डों वाले 'गरुड़-प्रासाद' बनवाये जाते थे। अनेक जातियों ने इसे अपना विजय प्रतीक बनाया। धर्म का आधार मिल जाने पर इसने ज्ञानी भक्त का रूप भी लिया।

पक्षी गरुड़ भले ही निर्दयता दिखाता हो, पर भारतीय पौराणिक गरुड़ दयालु है। गालव के गुरु विश्वामित्र ने जब गुरु दक्षिणा में दुष्प्राप्य श्यामकर्ण घोड़े मांग लिये तो वे त्रस्त हो गये। गरुड़ ही उनकी सहायता में आगे आये। अश्वों की पूर्ति के लिए उन्हें राजा ययाति के पास लाये।

गरुड़ गति का प्रतीक हैं। जो गति को, वेग को पैरों तले दबा रखता है, वही आवेग को वश में रखता है। वह सूक्ष्म-द्रष्टा है। चारों ओर उसके नयन-चक्र घूमते हैं, चल-चक्षु। राजा के चर रूपी चल चक्षु सतत गतिमान रह टोहते थे। इसीलिये नरपति गरुड़ की उपाधि धारण करते थे। वह शीघ्र-गामी है। अतः तत्काल विपत्ति में सहायक उद्धारक है। सज्जनों का मित्र, सात्विकता का भार वहन करने वाला है। इसीलिये कलुषता का, कालसर्प उससे दूर है। वह पक्षधर है, समाज के पालन कर्ता का भार-वाही। उसका स्मरण आत्म-शक्ति भर, जिलाता है। यही 'गरुड़-मन्त्र' है। तन में स्फूर्ति की हरियाली, जीवन लाता है। इसीलिये मरकत 'गरुड-मणि' है। अन्य खगों से भिन्न वह उज्ज्वल मुख वाला है, सतो गुणी आभा से। 'गरुडध्वज' ही नहीं 'गरुडांक' भी हैं। गरुड़ निरन्तर उनके अन्तर में बसता है। गरुड़ सूर्य का प्रतीक है। दोनों गगन

के छोर नापते हैं। 'सुपर्ण' या गरुड़ ही विष्णु का आदि रूप था (ऋग्वेद,19/142/3)। गीता में भी कहा है, नक्षत्रों में मैं सूर्य हूं (ज्योतिषां रविरंशुमान, 'गीता' 10/21)। अतः गरुड़ ईश्वर का ही दूसरा रूप है।

कपूर क्लिनिक, कहारबाड़ी,
भगत सिंह चौक मार्ग, बिट्ठलनगर,
खण्डवा, म.प्र. 450001

❑❑

स्वतन्त्रता संग्राम में शाजापुर जिले की भूमिका

मध्य भारत में शाजापुर वह क्षेत्र है जहाँ के वीरान गढ़ों ओर भयावह जंगलों में भारतीय स्वतन्त्रता के महान क्रान्तिकारी, स्वतंत्रता प्रेमियों ने गुप्त निवास किया और महात्मा गाँधी तथा सरदार भगतसिंह जैसे स्वतन्त्रता के दीवानों से सम्पर्क रखा एवं सदैव परतंत्रकारियों से संघर्ष कर एवं यातनाएँ सहकर अपनी अस्मिता को बनाये रखा।

1857 की क्रान्ति के समय पूरे देश के साथ ही मध्य भारत के अनेक कस्बे और शहर भी उससे जुड़ गये थे। इनमें विशेषकर उज्जैन, देवास तथा इन्दौर से शाजापुर क्षेत्र की निकटता होने के कारण वहाँ की स्वतन्त्रता भावना तथा वातावरण का पूरा प्रभाव यहाँ भी पड़ा। उस समय का मध्य भारत ग्वालियर, इन्दौर, देवास, राजगढ़ आदि रियासतों में विभक्त था और ब्रिटिश सत्ता ने अपनी प्रभुसत्ता को बनाये रखने के लिए महू, नीमच, गुना तथा शाजापुर के निकट तत्कालीन आगर कस्बे में छावनी स्थापित की हुई थी। ब्रिटिश फौजी छावनी के प्रति स्वतन्त्रता की भावना रखने वाले जन सामान्य का कठोर रुख था। जनमानस में इन छावनियों के प्रति शनैः शनैः आक्रोश बढ़ता गया और फिर उसकी परिणति घटनाओं में होने लगी। सन् 1814 ई. में ब्रिटिश फौज की छावनी आगर में स्थापित हुई थी। इसी आगर में 1857 के विद्रोह के समय गणेशदत्त शर्मा 'इन्द्र' के अनुसार 31 मई की रात्रि में क्रान्ति होने की सूचना मिली थी। इसी क्रान्ति की हवा जब फैली तब 1857 ई. में शिवपुरी के विप्लवी सैनिक भी आगर आ धमके और उन्होंने यहाँ की फौज को ब्रिटिश अधिकारियों के विरुद्ध उकसाया तथा उनसे बदला लेने की भावना को बलवती बना दिया। इस बात ने आग में घी डालने का काम किया और 4 जुलाई 1857 ई. को आगर के लाल परेड मैदान में सिपाहियों ने तीन ब्रिटिश फौजी अफसरों को मार गिराया। इस खुली घटना से छावनी, शाजापुर और आस-पास के क्षेत्रों में हड़कम्प मच गया और ब्रिटिश अफसर सपरिवार भाग खड़े हुए।

क्रान्तिकारियों के हौसले बुलन्द हो गये। आगर में ही पदस्थ एक अन्य ब्रिटिश अफसर मि.ओ.नील भी ऐसी घटना के दौरान क्रान्तिकारियों के हत्थे चढ़ गया। दरअसल उसने यहाँ के आम लोगों के साथ बहुत क्रूरता का व्यवहार किया था। इसी क्रूरता के कारण यहाँ का एक सिपाही आसफ अली शहीद हो गया था। इसी घटना से बुरी तरह आहत होकर उसके पुत्र मजहर अली ने रंगरूट सिपाहियों से मिलकर ओ.नील को सरेआम गोली से उड़ा कर खुले आम बगावत का जयघोष कर दिया। इस घटना ने अंग्रेजी दासता के विरुद्ध शाजापुर क्षेत्र के भारतीय स्वतन्त्रता में विश्वास करने वालों को एकजुट होकर ब्रिटिश अधिकारियों को सबक सिखाने की चेतावनी भी दे डाली। शाजापुर क्षेत्र के तत्कालीन सुसनेर, सोयत क्षेत्र में सौन्धिया राजपूत समाज के ग्रामीण कृषकों, युवकों ने भी एक जुट होकर ब्रिटिश अधिकारियों की क्रूरता और महिलाओं से दुर्व्यहार के कारण तंग होकर खुले आम बगावत का झण्डा बुलन्द कर दिया। सौन्धिया राजपूतों के दल के आक्रमणों से कई ब्रिटिश गोरे मारे गये और उनके अश्व तथा हथियार सौन्धिया नवयुवकों ने छीन लिये। उन्होंने कई गोरों के सिर काट दिये। इस घटना की पुष्टि वहाँ के लोकगीतों से भी होती है –

अईजा रे भूरिया खड़े-खड़े। होन्दिया नाम नींडरे।
के भूरिया की तुक्डिया रड़कती फिरेरे...।
अईजा रे भूरिया खड़े-खड़े।।......

अर्थात् भूरिया यानी अंग्रेज को होन्दिया (सौन्धिया, सौंधांवाड में 'स' को 'ह' उच्चारित करते हैं) समाज ने चुनौती दे डाली और अपने अपमानों का उन्होंने गर्दन काट कर बदला लिया है। शाजापुर क्षेत्र का बीजानगरी-करनालया ग्राम आज भी 1857 की क्रान्ति के ऐसे पृष्ठ का ऐतिहासिक गवाह है जब ब्रिटिश अधिकारियों की अमानवीय क्रूरताओं और यातनाओं ने यहाँ के जन

साधारण को इतना अधिक प्रताड़ित कर डरा दिया था कि फिर अन्तिम सीमा पर जाकर उनका डर ही खत्म हो गया था और इस डर को समाप्त कर वे कठोर क्रान्तिकारी हो गये थे। वे इतने उग्र हो गये कि जब भी और जहाँ भी उन्होंने अवसर देखा वहीं फिरंगियों को मार डाला।

क्षेत्र के सोयत कस्बे की फोर्स के एक सिपाही कन्हैयालाल शर्मा ने ब्रिटिश अधिकारियों के ग्रामीणों पर गोलियां चलाने के आदेश के प्रति विद्रोह कर दिया था और स्वदेशी की भावना से ओतप्रोत इस साहसी व्यक्ति ने अपनी नौकरी का त्याग कर क्रान्तिकारियों का साथ दिया। आगर के रिसालदार और ब्रिटिश सरकार के एक चाटुकार नौकर बुनियाद अली ने वहाँ की जनता पर अत्याचार किये परन्तु आगरवासी अब एकजुट हो चुके थे और इसके फलस्वरूप उन्होंने उसका खूनी प्रतिकार लिया। 1860 ई. के बाद ऐसी घटनाओं के मध्यनजर आर्मी के सिपाहियों की बाकी फोर्स ग्वालियर के सिन्धिया नरेश को सौंप दी गयी। नरेश ने जन सामान्य की भावना का आदर किया और क्षेत्र में सदव्यवहार तथा आम माफी का वातावरण बनाया जिससे 1895 ई. में ब्रिटिश सरकार की मालवा ऐजेन्सी आगर से हटाकर इन्दौर में स्थापित कर दी गई।

विवेच्य क्षेत्र के बंजारों एवं गुर्जर समाज में भी ब्रिटिश सरकार के गोरों के प्रति जो घृणा उत्पन्न हुई उसे उन्होंने अपने लोकगीतों, विशेषकर 'हीड़' में जुल्मी कहकर चुनौती दे डाली। उन्होंने अपने क्षेत्रीय समाज में देशभक्ति और अपनी जातिगत वीरता एवं स्वाभिमान की हुंकार भरी। उन्होंने हीड़ लोकगाथा में अपने स्थानीय ग्राम देवी-देवताओं, महापुरुषों और शहीदों के उत्सर्ग वाले वीरत्व कार्यों का गुणगान समाहित किया। उनके इस हीड़ गायन ने फिर जन-जन में आत्मविश्वास, शक्ति और एकता का संचार किया। प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के बाद यद्यपि शाजापुर क्षेत्र में ग्वालियर राज्य के शासक माधवराव शिन्दे (सिन्धिया) (1876-1925) ने प्रजा की सर्वोन्नति एवं कृषि सुधार के कार्य व्यक्तिगत रुचि लेकर सम्पन्न किये परन्तु जो क्रान्ति के बीज इस धरती पर एक बार स्थापित हुए उनका प्रभाव अनुवांशिक रूप से यहाँ पीढ़ी दर पीढ़ी रहा जिससे राष्ट्रीय आन्दोलन क्रमिक रूप से विस्तृत होता गया जिसमें सैकड़ों स्वतन्त्रता प्रेमियों ने अपना योगदान देकर इसे संजोया। शाजापुर जिले में स्वतन्त्रता आन्दोलन को अपनी विचाराभिव्यक्ति से जिन्होंने बड़ा प्रभावित किया उन सपूतों में इस जिले के पं. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' (बा साहब), पं. लीलाधर जोशी एवं सौभाग्यमल जैन का नाम वरेण्य है।

'अनहद' जैकी स्टूडियो,
15 मंगलपुरा, झालावाड़ (राज.) 326001
मोबा. 982989368

❏❏

दक्षिण भारत में देवदासी प्रथा

देवदासी का शाब्दिक अर्थ है 'देवता की दासी'; अर्थात भगवान की सेवा के निमित्त समर्पित युवतियां या लड़कियां। दक्षिण भारत के हिंदू परिवारों में मध्य-युगीन भक्ति के वातावरण एवं सामाजिक परिवेश के युग में किसी एक छोटी कन्या को मंदिर में सेवा के लिए अर्पित करने की प्रथा प्रचलित थी। उस युग में दक्षिण भारत में मंदिर संस्कृति का प्रचलन हो चुका था। दक्षिण भारत की संस्कृति शताब्दियें से मंदिर केन्द्रित संस्कृति मानी जाती है। अतः यह प्रथा बहुत प्राचीन प्रथा मानी जाती है और मंदिर संस्कृति के विकास के साथ-साथ मध्य युग के सामाजिक परिवेश में संभवतः इस प्रथा का विकास हुआ होगा। मध्य युग में खासकर चोल सम्राटों के शासनकाल में इस प्रथा की सूचनाएं यहां प्राप्त शिलालेखों से मिलती हैं।

देवदासियों की श्रेणियां या विभिन्न स्तर रहे। प्रमुख रूप से छोटी कन्याओं को मंदिर की सेवाओं के लिए बेच दिया जाता था। संभवत गरीबी की वजह से ऐसा करने की मजबूरी रही होगी। इसके बाद वे लड़कियां या कन्याएं मंदिर की संपत्ति मानी गयीं। उन्हें खाना-कपड़े और रहने के लिए भी मंदिर की ओर से व्यवस्था रही। छोटी उम्र में ही उन्हें गाने और नाचने की कलाएं सिखा दी जाती थी। गाने और नाचने के अतिरिक्त उन्हें मंदिर का काम भी करना पड़ता था जैसे झाड़ू लगाना, जमीन की सफाई कर गोबर के पानी से पोंछना, बर्तन मांजना, कुएं से पानी लेकर आना, कोलम-रंगोली करना, पुष्पहार बनाना इत्यादि काम

करने होते थे। संक्षेप में मंदिर की हर प्रकार की सेवा करनी पड़ती थी। मंदिर के परिसर में अथवा मंदिर से सटे हुए छोटे-छोटे घरों में उनके ठहरने की व्यवस्था होती थी। मंदिरों में लगभग गुलामों की तरह उनसे व्यवहार किया जाता था। सैद्धांतिक दृष्टि से ईश्वर या देवी देवता ही उनके संरक्षक माने जाते थे मगर व्यवहार में वे मंदिर के व्यवस्थापक या धनी पोषक के अधीन होती थीं। धीरे-धीरे ये कन्याएं इन व्याभिचारी लोगों की हवस का शिकार बनकर दयनीय जीवन जीने को विवश की गईं।

इन देवदासियों के संबंध में प्रसिद्ध इतिहासकार एके नीलकंठ शास्त्री जी कहते हैं "If the devadasi served a passerby is the thought that is her condition ever that was religious, sacred function, it should be noted that it was done in a restrained and enlightened manner." शास्त्री जी का यह विचार एक सनातनी तथा पुराण पंथियों के रूढ़िवादी विचारों के अतिरिक्त और कुछ नहीं। क्योंकि वास्तव में यह एक घिनौनी सामाजिक कुप्रथा है। अनेक शताब्दियां बीत गईं फिर भी 'दासी' शब्द जिस बुरे अर्थ में प्रयुक्त होता है वह मिटा नहीं। वे वैश्या ही मानी जाती थी।

19वीं शताब्दी के प्रारंभ में यह कुप्रथा बहुत फलती फूलती संस्था के रूप में दक्षिण भारत के मंदिरों में प्रचलित थी। Francis Buchanan लिखते हैं : "The dancing women were attached to the temples. All the handsome girls are selected to dance and sing and are all prostitutes at least to the Brahmins" कांचीपुरम के एक एकाम्रेश्वर मंदिर में एक सौ नाचने वाली देवदासियां मंदिर की सेवा में नियुक्त थीं। बारलो जो यहां का गवर्नर जनरल था वह कहता है कि उड़ीसा के पुरी जगन्नाथ मंदिर में 300 लड़कियां रहती थीं और वहां के ब्राह्मण पुजारी उन पर अत्याचार किया करते थे। इस प्रथा को बंद करने का कोई उपाय उन्हें नहीं सूझा।

दक्षिण भारत में कर्णानट (कर्नाटक) प्रदेश के कुछ भागों में भी यह प्रथा प्रचलित थी। वहां देवदासियां जोगति (जोगिन) कहलाती हैं। एलम्मा नामक ग्रामीण देवी की भक्त होती हैं। बड़ी होने पर यह लड़कियां देवदासियां कहलाती हैं। यह देवालयों के अंग-भोग तथा रंग-भोग में काम आती हैं तथा देव मंदिरों में नाच-गाना करना इनका प्रमुख काम होता है। वास्तव में यह ठाकुरद्वारे की देवमूर्तियों की पत्नियों की भांति मानी जाती हैं और देव मंदिरों में आने वाले अतिथियों को संतृप्त करना इनका धर्म माना जाता है। जब यह देवता को अर्पित की जाती हैं तब उनके सिर पर भंडार डाला जाता है और उनको घर से विदाई दी जाती है। एक बार दान में दी गई कन्या कुल से बाहर हो जाती है। ऐसी लड़कियों को बसवी या जोगनी कहा जाता है। हर साल सैकड़ों कन्याओं का अर्पण होता है। भगवान के लिए निवेदित रमणियां ये समाज के लिए पूज्य होने के बदले एक अभिशाप बनकर रह जाती हैं।

ऐसी निरीह कन्याओं और रमणियों पर कामपिपासु भक्त, मंदिर के पुजारी या यात्री लोग अत्याचार करते हैं, व्यभिचार करते हैं तथा उन्हें वेश्या बनाते हैं। इन लोगों के काम के ताप से पुष्प जैसी मासूम मुग्धा लड़कियां जल जाती हैं। देवदासियां या ऐसी बनाई गई वैश्याओं की दर्द भरी कहानी सुनते ही हमारा कोमल हृदय दहल जाएगा। इनकी आपबीती हमारी अंतरात्मा को झकझोरने वाली दर्दनाक कहानियां हैं। अंततः ये देवदासियां विवशता वश मुंबई के कोठों की शरण लेकर अपने जीवन को बर्बाद कर लेती हैं।

मध्ययुग की सामाजिक परिस्थितियां बड़ी विषम थीं। समाज में स्त्रियों की हालत अत्यंत सोचनीय रही। वह केवल भोग की वस्तु ही मानी जाती थी। अतः यह प्रथा एक सामाजिक कुप्रथा बनकर बड़ी समस्या के रूप में चुनौती दे रही थी। पहले ही कहा जा चुका है कि देवता को अर्पित नारी को देवदासी कहा जाता था। कर्णाटक के करीब गांव बेळ रतौंदी में देवी ऍल्लम्मा का देवालय है। अंधविश्वास एवं कुप्रथा के वशीभूत होकर कुछेक मां-बाप अपनी कन्याओं को मनौती के रूप में देवी को अर्पित करते थे। बड़ी होने पर यह लड़कियां देवदासी कहलाती हैं। तमिल में इस प्रथा को 'पोट्टुवैत्तल' कहते हैं। कर्णाटक में इन्हें 'जोगिन या जोगति' कहा जाता है। ये एल्लम्मा देवी की भक्त या पुत्री मानी जाती हैं। लंपट और कामपिपासु लोगों ने धर्म के नाम पर इनपर अपना हक जमाया हुआ है, फलतः ये अबोध कन्याएं वेश्याएं या रांड कहलाती थी।

इन वेश्याओं की सामाजिक समस्यायें दूसरे प्रकार की हैं। मूल रूप से यह एक आर्थिक समस्या है। ये स्त्रियां गरीब परिवार की होती हैं, खुद वेश्या बनना नहीं चाहतीं। सामाजिक तथा आर्थिक कठिनाइयां इन्हें वेश्या बनाती हैं। ये बेचारी अपना तन बेचकर आजीविका चलाती हैं। कामी लोग तथा पुलिस इन पर अत्याचार करती हैं। कभी-कभी कोठे पर पुलिस की रेड होने से उन्हें जेल जाना पड़ता है। यह बेकसूर लड़कियां और कन्याओं की दर्द भरी व्यथा कथा है।

दक्षिण भारत की इन देवदासियों और उत्तर भारत की नाचने वालियों में भेद करना होगा। नाचने वालियों का विवरण इस प्रकार है– 'The nautch (नाच) girl is an entertainer of men belonged to a unique class of Courtesans who played a significant role in the social and cultural life of India in the eighteenth and nineteenth centuries. She represented a delightful synthesis of different cultures and dance forms, the classical as well as popular. She was no ordinary woman of pleasures but had refined manners, a ready wit and poetry in her blood. She catered to the taskes of the elite who had the time, resources and aptitude to enjoy her company.

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में तमिल देवदासियों की स्थिति बड़ी दयनीय बन गई थी और यहां के समाजसुधारकों ने इस कुप्रथा को एकदम बंद करने का प्रयत्न किया। मद्रास सरकार ने सन् 1929 में इस प्रथा को सदा के लिए बंद कर दिया। इसमें मुख्य हाथ डॉ. मुत्तुलक्ष्मी रेड्डी नामक समाजसेविका का था। डॉक्टर एनी बेसेंट और मार्गरेट कज़िन्स ने मिलकर इस घिनौनी प्रथा को एकदम बंद करवा दिया। इस प्रकार सन 1947 में यह प्रथा दक्षिण भारत में सदा के लिए बंद कर दी गई। मुत्तुलक्ष्मी ने औव्वैहोम (Avaai Home) की स्थापना कर अपाहिज अनाथ बालिकाओं तथा परित्यक्ता नारियों की बड़ी सहायता की।

'गुरु कुरुपा' 790, डॉ. ए. रामास्वामी सलाई
के. के. नगर (पश्चिम)
चेन्नै (तमिलनाडु) 600078

□□

महात्मा रावण

महर्षि वाल्मीकि ने रावण को महात्मा कहा है। सुबह के समय लंका में पूजा-अर्चना, शंख और वेद ध्वनियों से गुंजायमान वातावरण का रामायण में अलौकिक चित्रण है। रावण अतुलित ज्ञानी तथा बहु-विद्याओं का मर्मज्ञ था। एक कुशल राजनीतिज्ञ, सेनापति और वास्तुकला का मर्मज्ञ राष्ट्रनायक था। लंका में अशोक वाटिका जैसा विराट बाग तथा नदियों पर बनवाए गए पुल प्रजा के प्रति उसकी कर्तव्यनिष्ठा के प्रमाण हैं। स्वयं हनुमानजी उसके धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र संबंधी ज्ञान का लोहा मानते थे। महान शिवभक्त होने के साथ-साथ उसने घोर तपस्या के द्वारा ब्रह्मा से भी वर प्राप्त किए थे। आकाशगामिनी विद्या तथा रूप परिवर्तन विद्या के अलावा पचपन विद्याओं के लिए रावण ने पृथक से तपस्याएँ की थीं। यत्र-तत्र फैली वैदिक ऋचाओं का कुशल संपादक रावण ने अंक-प्रकाश, इंद्रजाल, कुमार तंत्र, प्राकृत कामधेनु, प्राकृत लंकेश्वर, ऋग्वेद-भाष्य, रावणीयम (संगीत), नाड़ी-परीक्षा, अर्कप्रकाश, उड्डीश तंत्र, कामचाण्डाली, रावण भेंट आदि पुस्तकों का रचनाकार भी था। रावण ने शिव-तांडव स्तोत्र सहित अनेक शिव स्तोत्रों की रचना की। यह अद्भुत है कि जिस 'दुराचारी' रावण को हम हर वर्ष जलाते हैं, उसी रावण ने लंका के ख्यात आयुर्वेदाचार्य सुषेण को घायल लक्ष्मण की चिकित्सा करने की अनुमति प्रदान की थी। रावण ने माता सीता को अपने अंतःपुर में नहीं, अशोक वाटिका में स्त्री-रक्षकों की पहरेदारी में रखा। सीता को धमकाने वाले कथित कामी रावण ने सीताजी द्वारा उपहास किए जाने के बावजूद, बलप्रयोग कदापि नहीं किया। सीताहरण किया, शूर्पनखा के नाक-कान काटे जाने के प्रतिशोध रूप। रावण से रक्षा हेतु राम को अमोघ आदित्यस्तोत्र देने वाले ऋषि अगस्त्य का यह कथन स्तुत्य है– 'हे राम! मैं अपनी संपूर्ण तपस्या की साक्षी देकर कहता हूँ कि जैसे कोई पुत्र अपनी बूढ़ी माता की देख-रेख करता है वैसे ही रावण ने सीता का पालन किया है।' (अध्यात्म- रामायण)।

महाबली रावण ने अपनी राज-सत्ता का विस्तार करते हुए अंगद्वीप, मलयद्वीप, वराहद्वीप, शंखद्वीप, कुशद्वीप, यवद्वीप, दण्डकारण्य और आंध्रालय को जीतकर अपने

अधीन कर लिया था। इसके पहले वह सुंबा और बालीद्वीप को जीत चुका था। सुंबा में मयदानव से उसका परिचय हुआ। मयदानव से उसे पता चला कि देवों ने उसका नगर उरपुर और पत्नी हेमा को छीन लिया है। मयदानव ने उसके पराक्रम से प्रभावित होकर अपनी परम रूपवान पाल्य पुत्री मंदोदरी से विवाह कर दिया। मंदोदरी पंचकन्याओं में परिगणित है जिनका नित्य स्मरण महापापनाशक कहा जाता है (अहल्या, द्रौपदी, तारा, कुंती तथा मंदोदरी। पंचकन्याःस्मरेतन्नित्यं महापातकनाशम् - ब्रह्म पुराण 3/7/219)। फिर रावण ने लंका को अपना लक्ष्य बनाया। दरअसल माली, सुमाली और माल्यवान नामक तीन दैत्यों द्वारा त्रिकूट सुबेल पर्वत पर बसाई लंकापुरी को देवों और यक्षों ने जीतकर कुबेर को लंकापति बना दिया था। रावण की माता कैकसी (महर्षि पुलस्त्य के पुत्र ऋ विश्रवा की दूसरी पत्नी) सुमाली की पुत्री थी। अपने नाना के उकसाने पर रावण ने अपनी सौतेली माता इलविल्ला के पुत्र कुबेर से युद्ध की ठानी परंतु पिता विश्रवा ने लंका रावण को दिला दी तथा कुबेर को कैलास पर्वत के त्रिविष्टप क्षेत्र में रहने के लिए कह दिया। रावण ने कुबेर का पुष्पक विमान भी छीन लिया था। रामायण के अनुसार युद्ध में प्रस्थान के पूर्व रावण अपनी सारी संपत्ति दरिद्रों में बाँट जाता है, कैदियों को मुक्त कर देता है और विभीषण को राज दिए जाने की वसीयत कर देता है। रावण के दाह-संस्कार के लिए विभीषण को तैयार करते हुए राम विभीषण से कहते हैं– 'मृत्यु के बाद वैर का अंत हो जाता है अतः तुम शीघ्र ही अपने भाई का दाह संस्कार कर डालो।' मना किए जाने पर राम कहते हैं– 'रावण भले ही अधर्मी रहा हो, परंतु वह युद्ध भूमि में सदा ही तेजस्वी, बलवान और शूरवीर था।'

भगवान राम ने अनेक बार उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। श्रीराम द्वारा लंका प्रयाण के समय शिव-पूजा हेतु शिव-मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा रावण जैसे अद्वितीय वेदमर्मज्ञ पंडित से करवाई गई, यही शिवमूर्ति रामेश्वरम् नाम से प्रसिद्ध हुई। जैन मतानुसार महान शिवभक्त एवं श्रीराम द्वारा पापमुक्त महापंडित रावण भावी चौबीस तीर्थंकरों (आवती चौबीसी) की सूची में भगवान महावीर की तरह चौबीसवें तीर्थंकर के रूप में मान्य है और कुछ प्रसिद्ध प्राचीन तीर्थस्थलों पर उसकी मूर्तियां भी प्रतिष्ठित हैं।

-उषा भंडारे (गूगल से साभार)

प्रेषक : बसंत कौशिक, जयपुर (मो.9351355941)

अंधविश्वास के खिलाफ

एक बार मुंशी प्रेमचंद की किसी बात पर उनकी पत्नी ने जब भगवान का नाम लिया तो उन्होंने कहा कि भगवान मन का भ्रम है, जो इंसान को कमजोर कर देता है। स्वावलंबी मनुष्य ही की दुनिया है। अंधविश्वास में पड़ने से तो रही-सही अक्ल भी चली जाती है। इस पर उनकी पत्नी ने कहा, गांधीजी तो दिन-रात 'ईश्वर-ईश्वर' चिल्लाते रहते हैं। जवाब में प्रेमचंद बोले, वह एक प्रतीक भर है। वह देख रहे हैं कि जनता अभी बहुत सचेत नहीं है। और फिर जनता सदियों से भगवान पर विश्वास किए चली आ रही है। जनता एकाएक अपने विचार बदल नहीं सकती है। अगर एकाएक जनता को कोई भगवान से अलग करना चाहे तो यह संभव भी नहीं। इसी से वे भी शायद भगवान का ही सहारा लेकर चल रहे हैं।

स्वत्वाधिकारी भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता के लिए सचिव शंकरलाल सोमानी द्वारा कल्याणी प्रिंटर्स, अलखसागर रोड, बीकानेर के लिए कंप्यूटर-एन-मीडिया, 25ए, सी. आर. एवेन्यू, कोलकाता-72 में मुद्रित एवं भारतीय विद्या मंदिर से प्रकाशित। संपादक- डॉ. बाबूलाल शर्मा।

भारतीय विद्या मंदिर द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

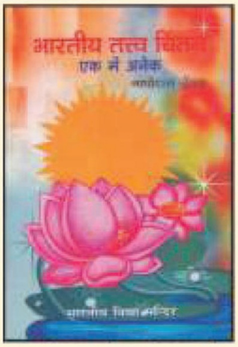

भारतीय तत्त्व चिंतन
माधोदास मूंधड़ा
मूल्य 150/- पृ.सं. 190
ISBN : 978-81-89302-15-9

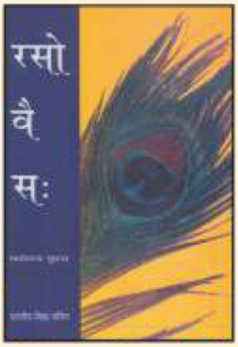

रसो वै सः
माधोदास मूंधड़ा
मूल्य 150/- पृ.सं. 165
ISBN : 978-81-89302-16-7

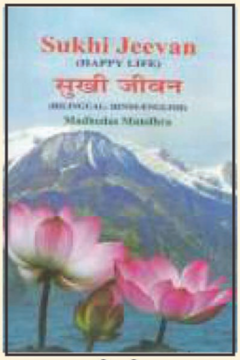

सुखी जीवन
माधोदास मूंधड़ा
मूल्य 275/- पृ. सं. 216
ISBN : 978-81-89302-52-8

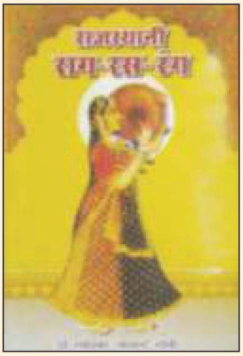

राजस्थान राग-रस-रंग
डॉ. रामेश्वर 'आनंद' सोनी
मूल्य 500/- पृ. सं. 384
ISBN : 978-81-89302-33-7

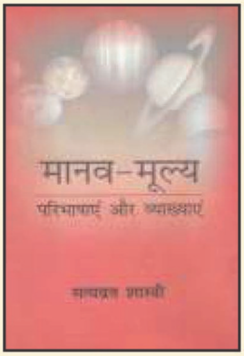

मानव मूल्य परिभाषाएं और व्याख्याएं
सत्यव्रत शास्त्री
मूल्य 550/- पृ. सं. 304
ISBN : 978-81-89302-52-8

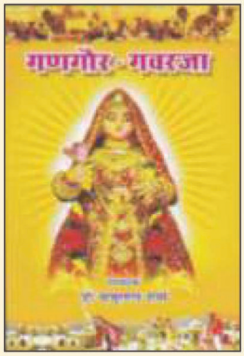

गणगौर-गवरजा
डॉ. बाबूलाल शर्मा
मूल्य 400/- पृ. सं. 264
ISBN : 978-81-89302-63-4

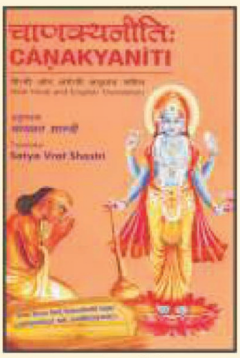

चाणक्यनीतिः
सत्यव्रत शास्त्री
मूल्य 295/- पृ.सं. 194
ISBN : 978-81-89302-42-9

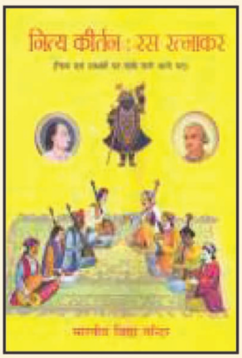

नित्य कीर्तन : रस रत्नाकर
मूल्य 900/-
ISBN : 978-81-89302-35-1

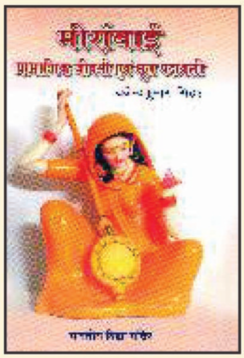

मीरांबाई
प्रामाणिक जीवनी एवं मूल पदावली
संपा. ब्रजेन्द्र कुमार सिंहल
मूल्य 900/- पृ.सं. 584
ISBN : 978-81-89302-41-2

पुस्तकादेश हेतु संपर्क करें

शंकरलाल सोमानी, सिम्पलेक्स हाउस, 27, शेक्सपीयर सरणी, कोलकाता-700 017 मोबाइल : 09830559364 ई-मेल : shankar.somani@simplexinfra.com

G.D.M.
PUBLIC SCHOOL
Near, Govt. DIET Office, Pugal Road, Bikaner

Admission Open for Nursery to 10th

Session - 2023-24

G.D.M. Public School
Pugal Road, DIET. Office, Bikaner
(Rajsthan) Pin - 334004
E-mail : gdmpublicschool1342@gmail.com

M. 7977715540

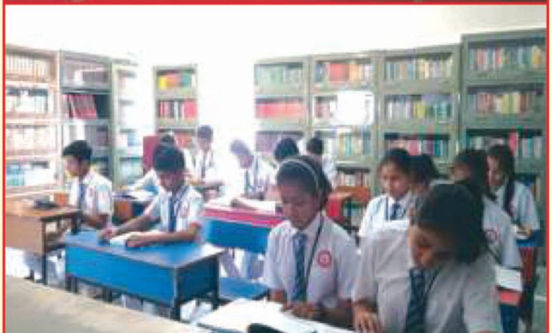

From

BHARATIYA VIDYA MANDIR

12/1, Nellie Sengupta Sarani

Kolkata - 700087 *(W.B.)*

TO